

म. ग्रं. सं. ठाणे  
विषय  
सं. क्र. 2903

# र स धा रा

म. ग्रं. सं. ठाणे  
विषय क/क/क  
सं. क्र. 2903

299



REFBK-0019901

REFBK-0019901

भ. श्री. पंडित

4 JAN 1912

कलकत्ता  
2963



आवृत्ति पहिली १९५३  
पुनर्मुद्रण १९५७

सर्व हक्क प्रकाशकांचे स्वाधीन

प्रकाशक

स. कृ. पाध्ये

व्हीनिस प्रकाशन

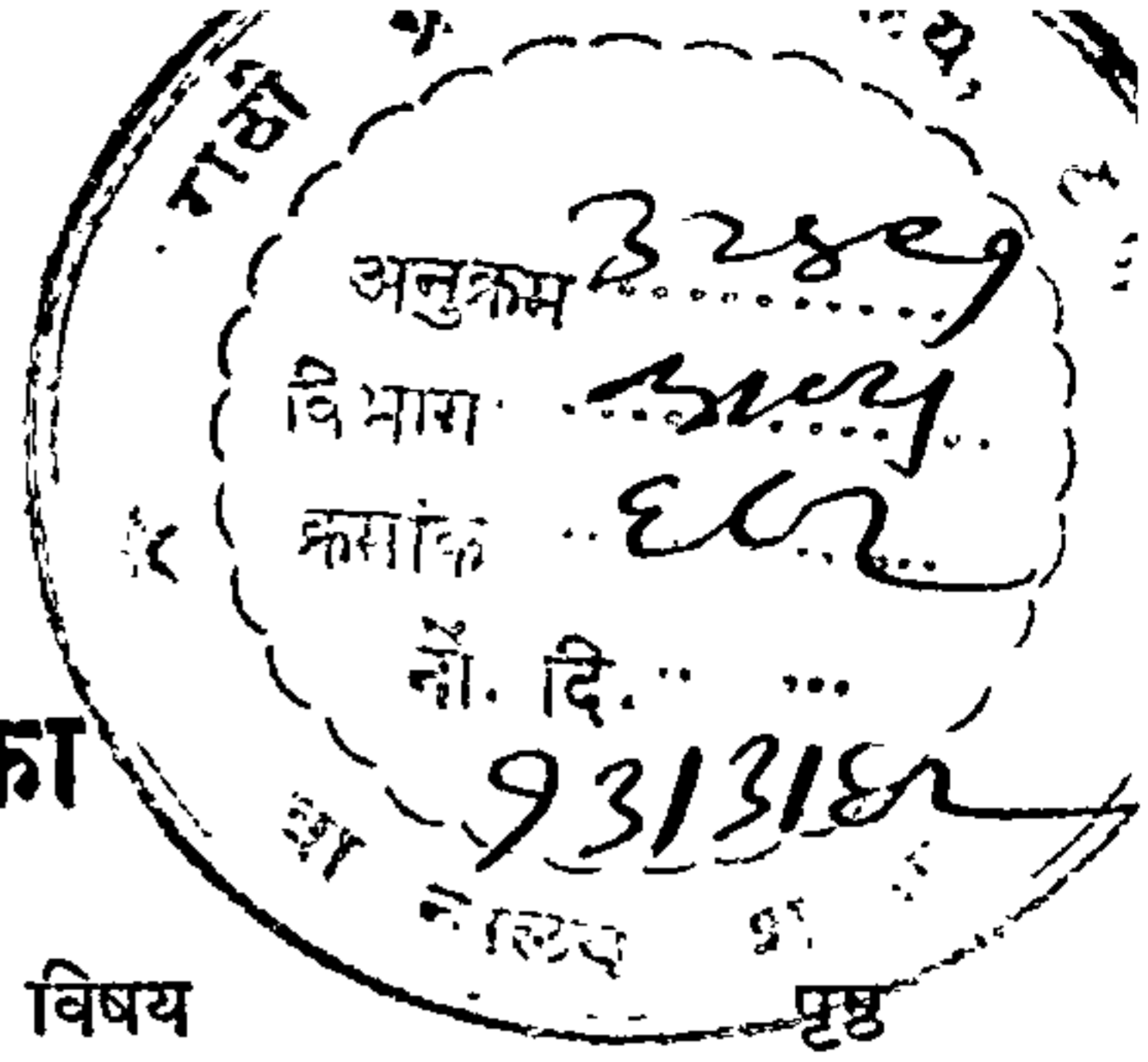
४१० शनवार : पुणे २

मुद्रक

य. गो. जोशी

आनंद मुद्रणालय

१९६।४६ सदाशिव : पुणे २



## अनुक्रमणिका

| विषय                                 | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|
| आरंभी                                | ५     |
| प्रास्ताविक                          | ७-२०  |
| रे नारायण वामन टिळक                  |       |
| १ कुणास्तव कुणीतरी                   | १     |
| २ केवढें हें कौर्य !                 | २     |
| ३ बोंबाबोंब                          | ४     |
| ४ महारथी                             | ५     |
| ५ माझ्या जन्मभूमीचें नांव            | ६     |
| ६ लोकमित्र                           | ७     |
| लक्ष्मीबाई टिळक                      |       |
| १ कल्पना, विचार, शब्द                | ८     |
| २ मी तुझी मावशी तुला<br>न्यावया आलें | ९     |
| ३ कावळा                              | १०    |
| ४ धुंधुर्मासाची खिचडी                | ११    |
| केशवसुत                              |       |
| १ मजुरावर उपासमारीची<br>पाळी         | १३    |
| २ रा. रा. बळवंत आपाजी<br>दाते यांस   | १४    |
| ३ सिंहावलोकन                         | १५    |
| ४ क्षणांत नाहीसे होणारे<br>दिव्य भास | १७    |
| ५ नवा शिपाई                          | १८    |

| विषय          | पृष्ठ |
|---------------|-------|
| ६ सतारीचे बोल | १९    |
| ७ फुलपांखरुं  | २३    |
| ८ आम्ही कोण ? | २५    |

### माधवानुज

|                       |    |
|-----------------------|----|
| १ बर्न्स कवि          | २६ |
| २ दगड फोडतांना        | २७ |
| ३ कृष्णाकोयनांचा संगम | २९ |
| ४ दीपविसर्जन          | ३० |
| ५ स्मशानगीत           | ३२ |
| ६ गीतांजलि            | ३४ |

### चंद्रशेखर

|                   |    |
|-------------------|----|
| १ कविवर्य लेंभे   | ३५ |
| २ रंगराव हर्षे    | ३४ |
| ३ गंगाद्वारीं भजन | ६१ |
| ४ कारंजें         | ४४ |

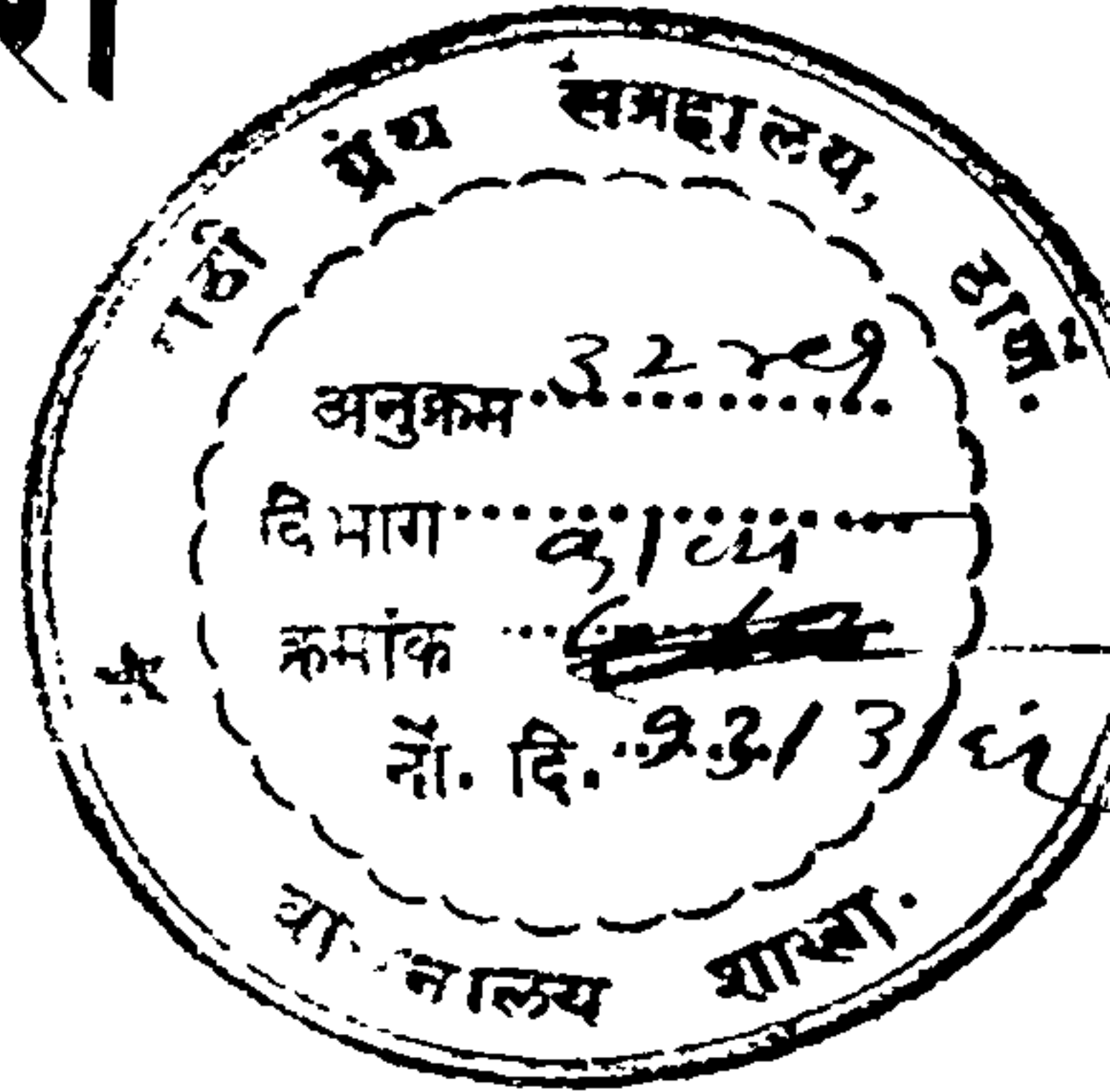
### विनायक

|                          |    |
|--------------------------|----|
| १ हतभागिनी               | ४६ |
| २ विरही                  | ४७ |
| ३ सोंगटीचा खेळ           | ४८ |
| ४ प्रो. छत्र्यांचा केसरी | ४९ |
| ५ गणेशपूजा               | ५० |
| ६ चिमा                   | ५१ |



29 10 13  
व्याख्या

# र स धा रा



संपादक

प्रा. भवानीशंकर श्री. पंडित

एम. ए.



मूल्य ३ रुपये



REFBK-0019901

वही न स प्र का श न : पु णे

आवृत्ति पहिली १९५३  
पुनर्मुद्रण १९५७

सर्व हक्क प्रकाशकांचे स्वाधीन

प्रकाशक

स. कृ. पाध्ये

व्हीनस प्रकाशन

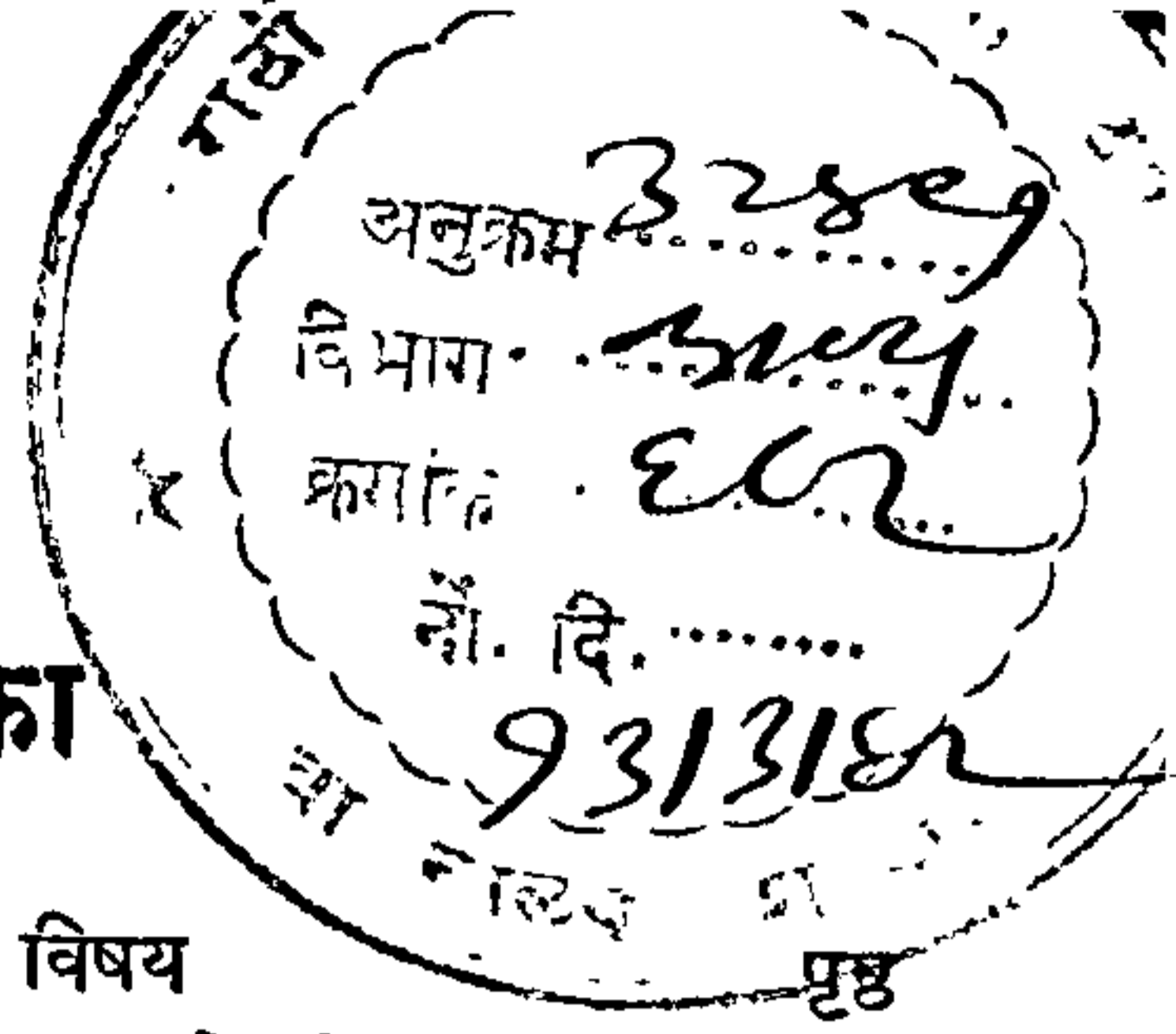
४१० शनवार : पुणे २

मुद्रक

य. गो. जोशी

आनंद मुद्रणालय

१९६।४६ सदाशिव : पुणे २



## अनुक्रमणिका

| विषय                                  | पृष्ठ |
|---------------------------------------|-------|
| आरंभो                                 | ५     |
| प्रास्ताविक                           | ७-२०  |
| रे नारायण वामन टिळक                   |       |
| १ कुणास्तव कुणीतरी                    | १     |
| २ केवढें हें कौर्य !                  | २     |
| ३ बोंबाबोंब                           | ४     |
| ४ महारथी                              | ५     |
| ५ माझ्या जन्मभूमीचें नांव             | ६     |
| ६ लोकमित्र                            | ७     |
| लक्ष्मीबाई टिळक                       |       |
| १ कल्पना, विचार, शब्द                 | ८     |
| २ मी तुझी मावशी तुला<br>न्यावया आलें  | ९     |
| ३ कावळा                               | १०    |
| ४ धुंधुर्मासाची खिचडी                 | ११    |
| केशवसुत                               |       |
| १ मजुरावर उपासमारीची<br>पाळी          | १३    |
| २ रा. रा. बळवंत आपाजी<br>दाते यांस    | १४    |
| ३ सिंहावलोकन                          | १५    |
| ४ क्षणांत नाहींसे होणारे<br>दिव्य भास | १७    |
| ५ नवा शिपाई                           | १८    |

| विषय          | पृष्ठ |
|---------------|-------|
| ६ सतारीचे बोल | १९    |
| ७ फुलपांखरुं  | २३    |
| ८ आम्ही कोण ? | २५    |

### माधवानुज

|                       |    |
|-----------------------|----|
| १ बर्न्स कवि          | २६ |
| २ दगड फोडतांना        | २७ |
| ३ कृष्णाकोयनांचा संगम | २९ |
| ४ दीपविसर्जन          | ३० |
| ५ स्मशानगीत           | ३२ |
| ६ गीतांजलि            | ३४ |

### चंद्रशेखर

|                   |    |
|-------------------|----|
| १ कविवर्य लेंभे   | ३५ |
| २ रंगराव हर्षे    | ३४ |
| ३ गंगाद्वारीं भजन | ६१ |
| ४ कारंजें         | ४४ |

### विनायक

|                          |    |
|--------------------------|----|
| १ हतभागिनी               | ४६ |
| २ विरही                  | ४७ |
| ३ सोंगटीचा खेळ           | ४८ |
| ४ प्रो. छत्र्यांचा केसरी | ४९ |
| ५ गणेशपूजा               | ५० |
| ६ चिमा                   | ५१ |

| विषय                        | पृष्ठ | विषय                             | पृष्ठ |
|-----------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| <b>बी</b>                   |       | <b>गोविंदाग्रज</b>               |       |
| १ दीपज्योतीस                | ५३    | १ ती कोण ?                       | ७६    |
| २ चांफा                     | ५४    | २ विरामचिन्हें                   | ७७    |
| ३ तीव्र जाणीव               | ५६    | ३ प्रेम आणि मरण                  | ७८    |
| ४ काव्यानंद                 | ५८    | ४ अल्लड प्रेमास                  | ८२    |
| ५ पिकलें पान                | ५८    | ५ गोफ                            | ८४    |
|                             |       | ६ परमाणूंचें कार्यमहात्म्य       | ८५    |
| <b>तांवे</b>                |       | ७ चिंतातुर जंतु !                | ८६    |
| १ कुणि कोडें माझें          |       | ८ फूल ना फुलाची पाकळी!           | ८६    |
| उकलिल कां ?                 | ६०    | <b>रेंदाळकर</b>                  |       |
| २ घट भरे प्रवाहीं बुडबुडुनी | ६१    | १ प्रबोधन                        | ८८    |
| ३ घन तमीं शुक्र वध          |       | २ भाऊ भाऊ आम्ही सारे             |       |
| राज्य करी                   | ६२    | भाऊ                              | ८९    |
| ४ मरणांत खरोखर जग           |       | ३ काव्यदेवीला                    | ९०    |
| जगतें !                     | ६४    | ४ काय बरें झालें !               | ९१    |
| ५ जेव्हां लोचन हे           | ६५    | ५ अजुनि चालतोंचि वाट             | ९२    |
| ६ साम्राज्यवादी             | ६६    | <b>वालकवि</b>                    |       |
| ७ रिकामे मधुघट              | ६७    | १ फुलराणी                        | ९४    |
| ८ वाटेच्या वाटसरा           | ६८    | २ श्रावणमास                      | ९६    |
|                             |       | ३ तारकांचें गाणें                | ९७    |
| <b>दत्त</b>                 |       | ४ पारवा                          | ९९    |
| १ आगगाडीस                   | ७०    | ५ मेघांचा कापूस                  | १००   |
| २ निज नीज माझ्या बाळा       | ७१    | ६ औदुंबर                         | १०१   |
| ३ दीपका !                   | ७३    | ७ उदासीनता                       | १०१   |
| ४ स्वतंत्रतेस—              | ७४    | <b>चरित्रविषयक, अर्थनिर्णायक</b> |       |
| ५ शहाणी बाहुली              | ७४    | व अवांतर टीपा १०३-१८४            |       |

## आरंभी

‘रसधारें’त बारा कवींच्या निवडक कविता संकलित केल्या आहेत. यांपैकीं केशवसुत, माधवानुज, विनायक, चंद्रशेखर व बी यांच्या पहिल्या कविता प्रथम हरिभाऊ आपट्यांच्या ‘करमणुकीं’त प्रसिद्ध झाल्या. ‘करमणूक’ १८९० सालीं विजयादशमीला प्रथम बाहेर पडली. तेव्हां या काळाचा आरंभ १८९० पासून धरला आहे. या कवींपैकीं बालकवि १९१८ मध्ये, गोविंदाग्रज व टिळक १९१९ मध्ये व रेंदाळकर १९२० मध्ये दिवंगत झाले. तेव्हां १९२० हा या कालखंडाचा अंत धरला आहे.

१९२० नंतर चंद्रशेखर, बी, तांबे व लक्ष्मीबाई टिळक ही मंडळी विद्यमान होती. तांबे व लक्ष्मीबाई टिळक यांच्या प्रतिभेला तर यापुढेच बहर आला होता. परंतु या सर्वांचा पिंड यापूर्वीच बनला होता. त्यांत सहसा बदल होणे शक्य नव्हते. त्यांचे विचार व संकेत ठरून गेले होते. म्हणून त्यांचा अंतर्भाव वरील काळांतच केला आहे.

या कालखंडातील कवितेंतून देशभक्ति, समाजोन्नति, गृहासक्ति व निसर्गप्रीति हे अंतःप्रवाह प्रामुख्याने वाहतांना दिसतात. तेव्हां ते समोर ठेवून निरनिराळ्या कवींच्या त्या त्या प्रकारच्या कवितांची निवड केली आहे. विद्यार्थ्यांनीं केवळ त्यांच्यावरच विसंबून राहूं नये. या कवींचे कवितासंग्रह अभ्यासाच्या दृष्टीने वाचावेत. या उद्देशाने शेवटीं विस्तृत टीपा जोडल्या आहेत आणि आरंभी या कालखंडातील कवितेचें स्वरूप विशद करणारी प्रस्तावना जोडली आहे. त्यांचा उपयोग झाल्यास संपादकाच्या श्रमांचें चीज होईल.

हा संग्रह तत्परतेनें प्रसिद्ध केला याबद्दल प्रकाशकांना जितके धन्यवाद द्यावे तितके थोडेच आहेत !

अमरावती }  
९-९-१९५३ }  
र....२

भवानीशंकर श्री, पंडित

## दुसऱ्या आवृत्तीच्या सुऱ्वातीस—

‘रसधारे’ची ही दुसरी आवृत्ति आहे. तिच्या टीपांत किरकोळ फेरफार केले आहेत आणि पहिल्या आवृत्तीत जे मुद्रणदोष राहिले होते, ते सुधारले आहेत.

या कविता-संकलनाला नागपूर विद्यापीठ, उस्मानिया विद्यापीठ, भारतवर्षीय महिला विद्यापीठ आणि पुणे विद्यापीठ यांनी आपल्या अभ्यासक्रमांत स्थान दिले, याबद्दल मी त्या त्या विद्यापीठांतील मराठी अभ्यासक्रम मंडळाच्या सदस्यांचा फार फार आभारी आहे.

हे संकलन सर्वांगसुंदर केले याबद्दल व्हीनस प्रकाशनाच्या संचालकांना मी अंतःकरणपूर्वक धन्यवाद देतो.

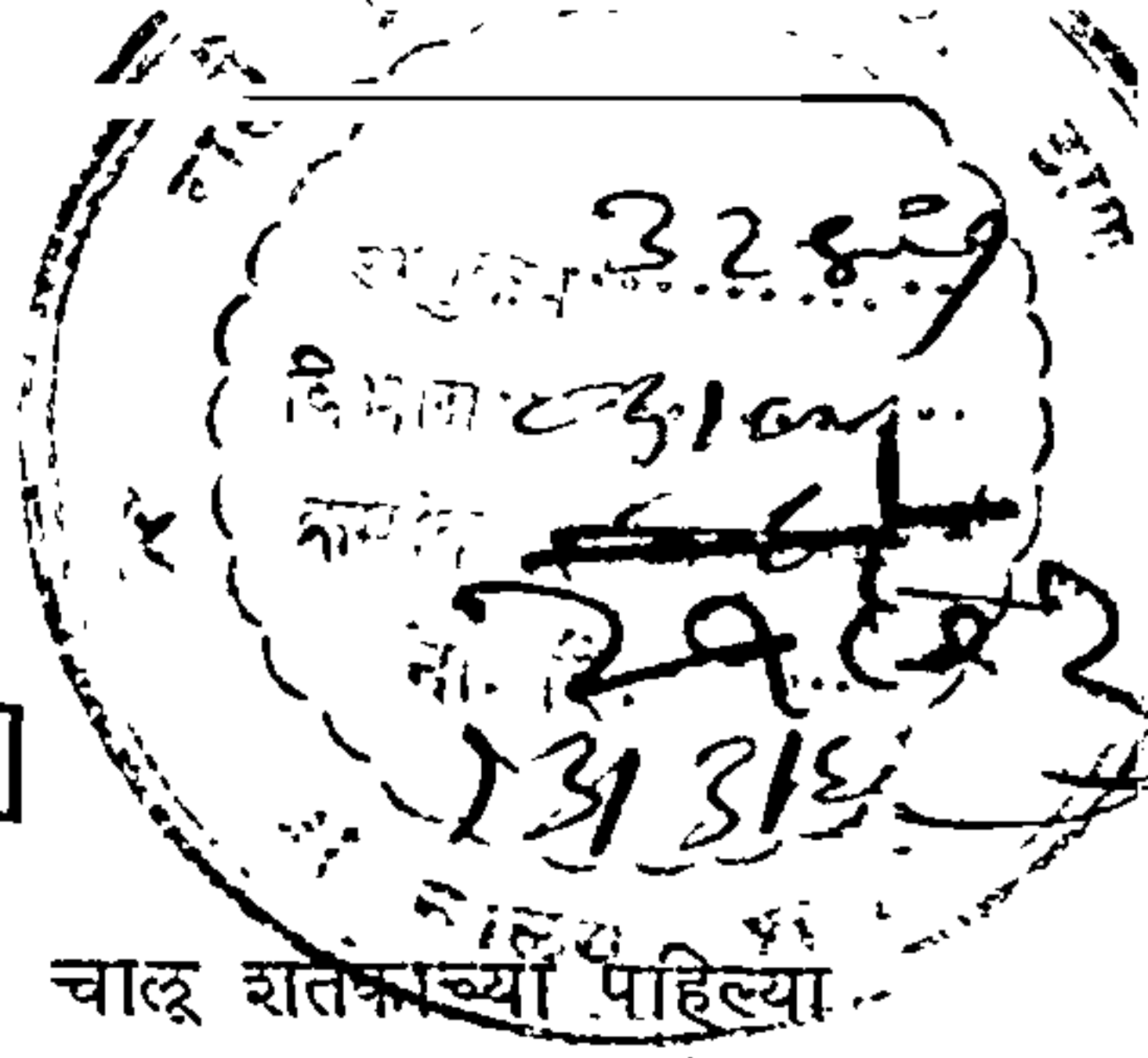
श्रीधरसदन—श्रद्धानंदनगर  
दक्षिण अंबाझरी मार्ग  
नागपूर-अजन्त  
रविवार, २४ मार्च १९५७

भवानीशंकर श्री. पंडित



# प्रास्ताविक

[ १८९०-१९२० ]



गेल्या शतकाच्या शेवटच्या दशकापासून तों चालू शतकाच्या पहिल्या दोन दशकांपर्यंत आधुनिक कवितेच्या बहिरंगांत व अंतरंगांत न भूतो न भविष्यति असं परिवर्तन घडून येत होतें. या परिवर्तनाची गति इतकी वेगवती होती आणि तिच्या द्वारां उत्पन्न होणारी संस्थिति इतकी सुसंस्कृत आणि उन्नत होती कीं, या परिवर्तनास कित्येकदां क्रांति म्हणण्याचा मोह होतो. कांहींजण या परिवर्तनास क्रांति म्हणत नाहींत. त्यांच्या मतानुसार हें परिवर्तन म्हणजे उत्क्रांति होती. महाराष्ट्रांत इंग्रजी राज्याची प्राणप्रतिष्ठा झाली, तेव्हांपासून परक्या राज्यकर्त्यांनीं या देशांत जी विचार-प्रणालि आणली, तिचा आमच्या आचारांवर व उच्चारांवर क्रमशः प्रभाव पडत गेला. तो या सुमारास डोळ्यांत ठसेल आणि मनांत बसेल अशा रीतीनें गोचर झाला एवढेंच. तेव्हां या परिवर्तनास क्रांति न म्हणतां उत्क्रांति म्हणावें असें त्यांना वाटतें. वस्तुतः सृष्टिशास्त्रांतील क्रांति आणि जीवनशास्त्रांतील उत्क्रांति हे दोन शब्द प्रयुक्त केल्यामुळें हा निरर्थक शाब्दिक वाद माजला आहे. परिवर्तन हा निसर्गाचा नियम आहे. काचित् तें क्रमशः होत असतें. काचित् तें वेगानें होतें. तें होतें त्यास केवळ व्यक्तीच जबाबदार नसते. त्यामध्ये त्या काळाचा आणि परिस्थितीचा वांटाहि फार मोठा असतो. तोच प्रकार या तीस वर्षांच्या काळांत झाला. हा काळ आधुनिक कवींच्या तिसऱ्या पिढीचा होय. टिळक पतिपत्नी, केशवसुत, माधवानुज, चंद्रशेखर, विनायक, बी, तांबे व दत्त हे या पिढींतील अग्रगण्य कवि या काळाच्या सुरुवातीस विशीत, पंचविशीत किंवा तिशीत होते. प्रातिभेच्या पहिल्या उद्रेकानंतर बहुधा याच वयांत प्रत्येक कवीच्या काव्याला एक विशिष्ट दिशा अथवा एक विवक्षित वळण लागत असतें. तेंच पुढें स्थायी होतें. त्यांत सहसा फारसा बदल होत नाहीं. उपर्युक्त कवि वयानें ज्येष्ठ, तर गोविंदाग्रज, रेंदाळकर व बालकवि हे

कनिष्ठ. या कनिष्ठ कवींच्या कवितेचा प्रवाह नव्या व निराळ्या दिशेने वाहत नसल्यामुळे त्यांचा या ज्येष्ठांतच समावेश होतो.

हा काळ या देशाच्या इतिहासांत जनजागृतीचा होता. देश इंग्रजांच्या दारुण दास्यांत खितपत पडल्याला जवळ जवळ पाऊणशें वर्षे लोटली होती. या पाऊण शतकांतील जनतेला इंग्रजी राज्य म्हणजे ईश्वरी वरदान वाटत होते. देशाची स्थिति एकाद्या थंडगार गोळ्याप्रमाणे झाली होती. या अवनत स्थितीचा परिणाम तत्कालीन साहित्यावर झाला आहे. साहित्याचा इतिहास म्हणजे त्या त्या कालखंडांतील आणि त्या त्या परिस्थितीं-तील मानवांच्या भावना, विचार आणि चित्तवृत्ति यांचा इतिहास होय. साहित्य हे मानवसमाजाच्या आश्रयाने राहत असते. त्याला निराळे अस्तित्व नाही. तेव्हा मानवसमाजाच्या इतिहासांत उत्थापन व पतन यांचा जो नियम आहे, तोच त्याच्या आश्रयाने राहणाऱ्या साहित्यास लागू होतो. मानवसमाजाच्या उत्कर्षाबरोबर त्याच्या आसऱ्यांत राहणाऱ्या साहित्याचा उत्कर्ष होतो. त्या समाजाचा ऱ्हास झाला की साहित्याचा ऱ्हास होतो. या पाऊणशें वर्षांतील पहिल्या दोन पिढ्यांचे काव्य-साहित्य त्याज्य अथवा उपेक्षणीय खास नाही, परंतु तिसऱ्या पिढीं-तील कवींच्या कवितांत जी अंतःस्फूर्ति आहे, विचारांत जे तेज आहे अथवा वाणीत जे ओज आहे, त्यांचा आढळ यापूर्वीच्या पिढींतील कवितांत होत नाही. त्या कविता प्रोत्साहक, प्रेरक अथवा प्रभावोत्पादक नाहीत. त्या मुळांत उत्साहहीन व चैतन्यशून्य आहेत. तिसऱ्या पिढींतील कविता याच्या अगदी उलट आहे. ती तशी कां, याचाच प्रस्तुत विचार करावयाचा आहे.

तिसऱ्या पिढींतील कविता ही एकदम आशादायक, ऊर्जस्वल व सत्त्व-संपन्न आहे. तिच्या या स्वरूपाचे मूळ कांहींजण तिच्या बहिरंगांत शोधण्याचा प्रयत्न करतात. वास्तविक बहिरंगांतील अनेक प्रयोग व सुधारणा दुसऱ्या पिढींतच झाल्या होत्या. यमकांच्या बाबतीत खरे, नायडू, महाजनी इत्यादिकांनी प्रयोग केले होते. पळेदार वाक्यरचना व उच्चारानुसारी लेखन यांचा उपयोग चिंतामणि पेठकर व कुंटे यांनी केला होता. बालानंद किंवा चंद्रकांत यांसारख्या जातींचा किंवा नाटकांतील पदांच्या चालींचा



किंवा त्या काळीं घरोघर प्रचलित असलेल्या मुद्रिका, उद्धव, अकूर इत्यादि पौराणिक पदांच्या चालींचा अवलंब कीर्तिकर, महाजनी, कानिटकर आदींनीं केला होता. तिसऱ्या पिढींत हे प्रयत्न कमीजास्त व्यापक प्रमाणांत झाले असतील इतकेंच. किंवा,

हे दिन-हाय !—

हे दिन चिंतांचे परंतु लटिकें हसण्याचे !

अथवा,

किती थोडके ! परी कसे ते गळति—पहा ते पळती

माझ्या वोटांमधुनि, सागरा जाती;

माझ्या नेत्रांमधुनि, आंसवें चलति—आंसवें गळती

अशा अर्धविषमचरणांच्या रचनेची त्यांच्यांत नवीन भर पडली असेल किंवा,

Rosebud—rosebud—rosebud, red

Rosebud brightly blooming

या मूळ ओळींच्या सहीसही अनुकरणानें

गुलावाचि कळी

गुलावाचि कळी

गुलावाचि कळी बहारदार !

अशी कांहींशी सैल स्वैर रचना पहिल्यांदाच निर्माण झाली असेल, पण म्हणून या नव्या पिढीतील कवितेचें सत्त्व या रचनाविषयक नावीन्यांत होतें असें म्हणतां येत नाही. दुसरे कांहींजण तिचें मूळ इंग्रजी कवितेच्या अनुकृतींत पाहतात. परंतु दुसऱ्या पिढींतच Choice Works of Poets, Palgrave's Golden Treasury आणि Mackey's One Thousand and One Gems of English Poetry या ग्रंथांचा प्रसार झाला होता. आणि त्यांतील वेचक कवितांचा आस्वाद प्रामुख्याने महाजनींनीं आणि अनुब्रंगानें भंडारे, पद्नाभ, मोडक, चिटणीस, पावणस्कर, मुळे, भवाळकर इत्यादिकांनीं त्या वेळेच्या रसिक वाचकांस चाखवला होता. प्रधान व कीर्तिकर यांनीं तर इंग्रजी खंडकाव्यें मराठींत आणलीं होती. तेव्हां तिसऱ्या पिढीचा हा प्रयत्न नवा होता असें मुळींच नाही. फार तर 'प्रत', 'अपत्याच्या निधनकाळीं' या प्रकारचे इंग्रजी मथळे व

कवितांच्या खाली त्याच नमुन्याचे स्थलकालनिर्देश यांच्या नवीनतेची कदाचित् अधिक भर पडली असेल. तात्पर्य, या बहिरंगांतील बदलांमुळे तिसरी पिढी फुटून निघते, हा जो समज आहे तो काहीं पटत नाही. प्रत्येक पुढची पिढी ही आपल्या मागच्या पिढीची अंशतः ऋणानुबंधी असते. या सत्याला अनुसरूनच तिसऱ्या पिढीने हे रचनाप्रयोग दुसऱ्या पिढीकडून घेतले, व्यापक प्रमाणांत पुढे चालवले आणि त्यांत कमी-अधिक भर घातली.

तिसऱ्या पिढीतील एक अग्रगण्य कवि केशवसुत यांनीच रचनाविषयक सुधारणा प्रथम केल्या, असा जो क्वचित् सूर कानी पडतो, तो अर्थातच इतिहासाला धरून नाही. केशवसुतांनी पहिली कविता १८८५ साली लिहिली. त्यापूर्वीच म्हणजे १८८३ मध्ये दुसऱ्या पिढीचे हे कार्य झाले होते. केशवसुतांनी कवितालेखनास आरंभ केला, त्यापूर्वी दुसऱ्या पिढीचे हे कार्य त्यांनी लक्षांत घेतले होते, यासंबंधीचा पुरावा आहे. 'भृंग' किंवा 'मित्राची खोली पाहून' या कवितांवर 'मणिबंधाच्या चालीवर' किंवा 'जलधरमालेच्या चालीवर' असे जे निर्देश केले आहेत, ते त्यांनी कीर्तिकरांच्या 'इंदिरे' वरून घेतले आहेत. 'कविता आणि कवि' या साध्या सरळ कवितेत त्यांनी 'स्वभावभूयिष्ठ' हा जो अगडबंब शब्द पेरला आहे, तो वि. ज्ञा. विस्ताराच्या एप्रिल ते जुलै १८८५ च्या जोड अंकांतील 'इंदिरे'च्या परीक्षणामधून घेतला आहे. 'जयाजीराव शिंदे व तुकोजीराव होळकर' ही त्यांची कविता त्या प्रकारच्या कविता लिहिण्यांत सिद्धहस्त असलेल्या मोगऱ्यांच्या कवितांवरून स्फुरली आहे. कारण वि. ज्ञा. विस्ताराच्या एप्रिल व ऑगस्ट १८८६ च्या अंकांत मोगऱ्यांच्या याच विषयांवरील कविता आल्या आहेत. केशवसुतांप्रमाणेच या पिढीतील दुसरे एक अग्रगण्य कवि तांबे यांनीही दुसऱ्या पिढीतील कवींचे कार्य लक्षांत घेतले होते, याविषयी पुरावा आहे. तांबे हे आधुनिक कवितेतील उत्कृष्ट पदांचे प्रणेते होत. 'अभिमन्यु' ही त्यांची आवडती जुनी-पुराणी चाल आणि 'जादुगरिणी' हा त्यांच्या एका गीतांतला शब्द त्यांनी ऑगस्ट १८९१ च्या वि. ज्ञा. विस्तारांत पद्मनाभ यांचे She is not fair to the outward view या Coleridge च्या एका गीताचे पुढील रूपांतर प्रसिद्ध झाले आहे त्यावरून घेतला आहे :—

## प्रास्ताविक

नयन सखि तुझे । तुझे ग जादुगरणी  
पाहुनिया आलि मला घेरणी \*

नसे ती नारी । नारि गोड दिसण्या  
जशा बहु माधुकड्या रमण्या ॥

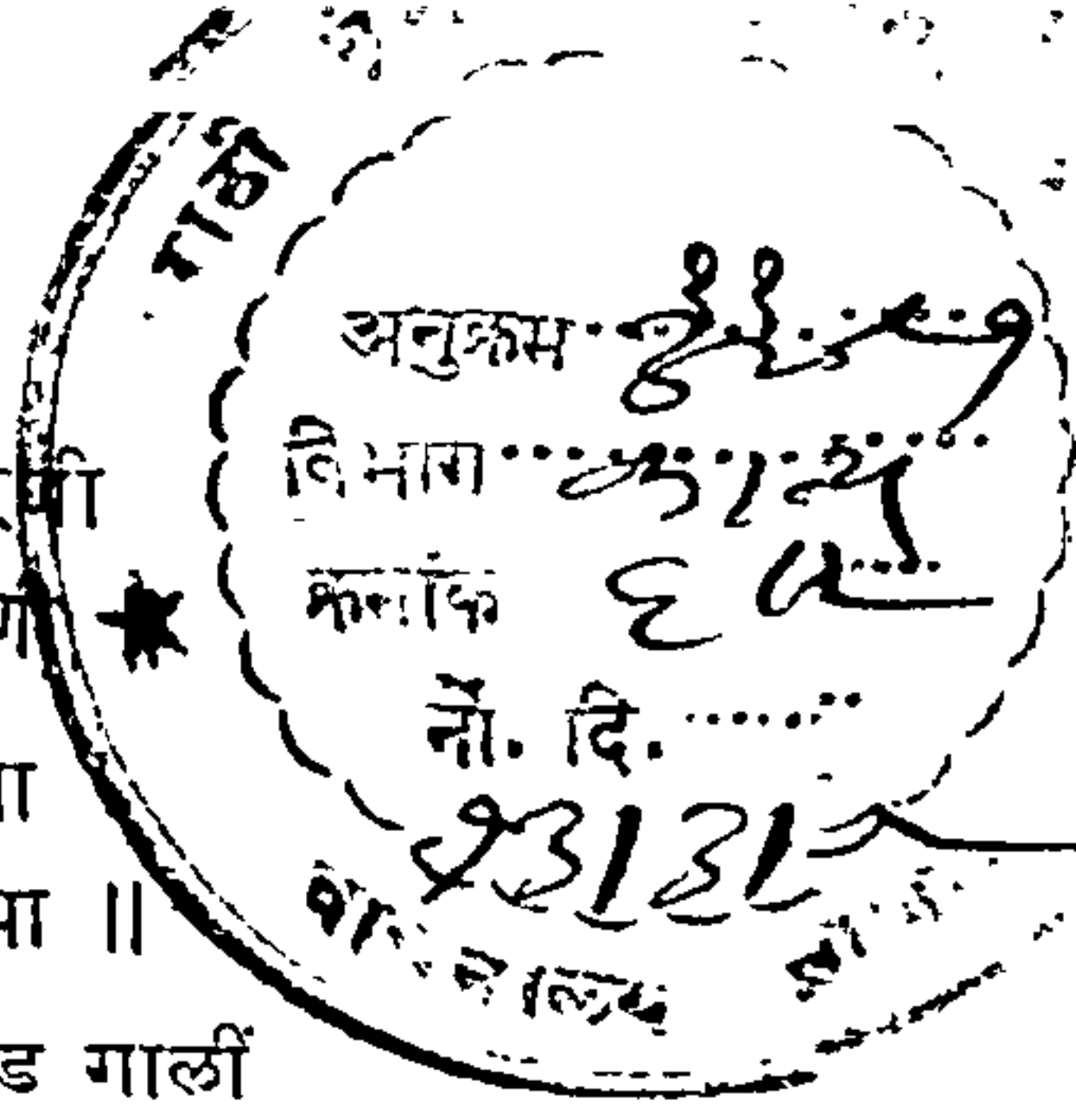
जेव्हां हो परि हसली । हसलि गोड गालीं  
तिची मज जादुगिरी कळली ॥

अहा ! त्या नयनीं-। नयनिं चमके त्रिजली  
तिथें जणुं प्रेमनदी मुरली ॥

सारांश, तिसऱ्या पिढीतील कवींनींच रचनाविषयक सुधारणांना आणि इंग्रजी स्फुट कवितांच्या रूपांतरांना हात घातला आणि त्यामुळे आधुनिक कवितेचें स्वरूप आमूलाग्र पालटलें असें म्हणणें इतिहासास सोडून होईल.

तर मग तिसऱ्या पिढीतील कवींची कविता इतकी भावनोत्तेजक, उत्साह-वर्धक आणि परिणामकारक असण्याचें कारण काय ? वस्तुतः याला अनेक कारणे आहेत. परंतु त्या सर्वांची मोजदाद येथें मर्यादित अवकाशांत आणि थोड्या वेळांत विस्तारानें करतां येणें शक्य नाहीं. याला प्रमुख व प्रभावी कारण म्हणजे येथील समाजांत अकल्पित व अकस्मात् अवतीर्ण झालेला व्यक्तिवाद होय. येथें इंग्रजी राज्य प्रस्थापित झाल्यानंतर हळूहळू त्यांच्या शाळा उघडल्या, त्यांतून त्यांच्या वाङ्मयाचा अभ्यास होऊं लागला, त्यांची विचारसरणी अनेक बाबतींत नवी व निराळी असल्यामुळे ती मनास आवडूं लागली आणि शासनांत त्यांच्याशीं साक्षात् संबंध आल्यामुळे त्यांच्या ठिकाणीं असलेल्या गुणांबद्दल आदर व अवगुणांबद्दल तिटकारा निर्माण झाला. या सर्वांचा परिणाम आमच्या जीवनावर झाला आणि त्याचाच पडसाद आमच्या तत्कालीन वाङ्मयांतून उमटला.

आपण व आपले देशबांधव परक्यांचे गुलाम आहोंत, याची तीव्र जाणीव होतांच तिकडील इतिहासांतील देशभक्तीचा ( Patriotism ) संचार आमच्या नसानसांतून होऊं लागला. आम्ही स्वातंत्र्याचे उपासक बनलों. आम्हांला फक्त देशस्वातंत्र्यच नको होतें. त्याबरोबर आम्हांला व्यक्तिस्वातंत्र्य, विचारस्वातंत्र्य, भाषणस्वातंत्र्य व लेखनस्वातंत्र्यहि हवें





होतें. त्या दिशेनें खटाटोपहि होत होते. देशांत १८८५ पासून राष्ट्र-सभेची स्थापना झाली होती. तिच्या द्वारां आम्ही आमचीं गाव्हाणीं सरकारपुढें ठेवून दाद मागत होतो. महाराष्ट्रांत चिपळूणकरांनीं आपल्या लेखणीनें तरुणांच्या अंतःकरणांत स्वत्व व स्वाभिमान यांचा अग्नि प्रज्वलित केला होता. त्यांच्या पावलांवर पावले ठेवून लोकमान्य टिळक व आगरकर पुढें आले होते. १८८१ पासून टिळकांचा 'केसरी' आणि १८८८ पासून आगरकरांचा 'सुधारक' महाराष्ट्राला राजकीय व सामाजिक विचार देत होते. त्यांच्या द्वारां हळूहळू दोन विचारप्रणालींच्या दोन शाळा जन्मास येत होत्या. घरांत वर्तमानपत्रें आणि बाहेर नित्य नवीं नवीं आंदोलनें यांमुळे सान्या समाजांत एक प्रकारचें चैतन्य खेळत होतें. न्यायमूर्ति रानडे सरकारी नोकरींत असल्यामुळे जरी प्रत्यक्ष या आंदोलनांत भाग घेत नव्हते, तरी आंतून त्यांची सहानुभूति व साहाय्य असे. थंडगार पडलेल्या गोळ्याला ते अप्रत्यक्ष रीतीनें आकार देत होते. त्या स्वातंत्र्योत्सुक वातावरणांत आपणदेखील कांहींतरी करून दाखवावे, असें भावनोत्कट कविहृदयांना वाटले असल्यास नवल' तें काय ? केवळ कवीनाच नाही, तर या वेळेच्या निबंधकारांना, नाटककारांना आणि कादंबरीकारांनाहि असेंच वाटले. कारण स्वातंत्र्यलालसा हाच तेव्हांचा युगधर्म होता. आणि म्हणूनच केशवसुतांपासून तों ठोमन्यांपर्यंतच्या काव्यांत या अदम्य लालसेचे कमीअधिक सूर ऐकूं येतात. जनतेतील चेतना जागृत ठेवण्यासाठीं पुढें, तीस वर्षांत गणेशोत्सव, शिवाजी-उत्सव, वंगभंग, स्वदेशी, स्वावलंबन, राष्ट्रीय शिक्षण व बहिष्कार इत्यादि ज्या चळवळी झाल्या, त्या सर्वांचें स्वागत या कवींनीं केले आहे, असें त्यांचे कवितासंग्रह चाळून पाहिल्यास निदर्शनास येईल. जनता सनदशीर चळवळीवरुन कधीं कधीं दहशतवादाकडे धाव घेई. अशा वेळीं सरकारची दडपशाही सुरू होई. तिचा उपसर्ग पांचूं नये म्हणून या काळची कांहीं कविता रूपकांच्या भाषेत किंवा पर्यायोक्तीनें निर्माण झाली आहे.

राजकीय स्वातंत्र्य हें कांहीं जनतेच्या हातीं नव्हतें. परंतु सामाजिक स्वातंत्र्य हें तिच्या हातीं होतें. समाजांत अनेक निर्वध होते, रूढि होत्या आणि अनाचार होते. या सर्वांचें शुद्धीकरण होणें किंवा त्यांच्या जागा

नवीन सुधारणांना देणे आवश्यक होतें. तेव्हां बालविवाह, विधवाविवाह, जरठकुमारीविवाह, प्रौढविवाह, प्रेमविवाह, स्त्रीशिक्षण, जातिभेद इत्यादिकां-संबंधींच्या चळवळी चालू होत्या. स्वतंत्रता, समता, बंधुता, न्याय व उन्नति या दृष्टींनी व्यापक अशा मानवतावादावर आधारलेल्या विचारांना याच वेळीं मधून मधून चालना मिळत होती. अस्पृश्यतानिवारण, सहभोजनें, आर्थिक विषमता इत्यादि चळवळी यांपैकींच होत. यांतील आरंभींच्या सुधारणांना बऱ्याच प्रमाणांत आणि नंतरच्या सुधारणांना कांहीं प्रमाणांत या कवींच्या कवितांत स्थान मिळालें आहे. अत्याचार असल्यास या कवितांचें स्वरूप टीकापर व सुधारणा असल्यास सहानुभूतिपर आहे.

कवि हे कवितेच्या नादांत आपल्याशींच निमग्न असतात असा जो एक अपसमज आहे, तो या कवींच्या बाबतींत निरर्थक आहे. कारण दुष्काळ, दैन्य किंवा प्लेगासारखें दुःख यांवर या कवींनीं पुष्कळ लिहिलें आहे. या युगांतील हरिभाऊ आपट्यांच्या 'कसे दिवस गेले?' किंवा 'काळ तर मोठा कठिण आला' या कथा जशा प्लेग व दुष्काळावर आहेत, तशाच माधवानुज, चंद्रशेखर, तांबे व दत्त यांनीं या प्रसंगांवर कविता लिहिल्या आहेत.

राजकीय व सामाजिक स्वातंत्र्याच्या लाससंतूनच येथील सुशिक्षित वर्गाच्या अंतःकरणांत व्यक्तिस्वातंत्र्याची ज्योत प्रदीप्त झाली होती. राज्यकर्त्यांच्या देशांत किंवा अमेरिकेंत जी लोकशाहीची पद्धति आहे, तिच्यांत समाजांतील प्रत्येक व्यक्तीला जें सुनियंत्रित परंतु व्यापक विचार, आचार व उच्चारस्वातंत्र्य आहे, तसें तें येथें असावें, असें या शिक्षित वर्गास वाटत होतें. पुन्हां इंग्रजी साहित्याच्या परिशीलनामुळे ही वृत्ति दिवसेंदिवस अधिकाधिक बळावत होती. या दृढ वृत्तीमुळे शिक्षित वर्गास हरतन्हेच्या सामाजिक आणि खासगी दडपशाहीचा अतिशय तिरस्कार असे. याच सुमारास राज्यकर्त्यांनीं या देशांत दळणवळणाचीं जीं नवीन साधनें निर्माण केलीं होती आणि ज्या यांत्रिक सुधारणा केल्या होत्या, त्यांच्यामुळे आमची जुनी समाजरचना विस्कळित होत होती. एकत्र कुटुंबपद्धतीची जागा विभक्त कुटुंबपद्धति घेत होती, जुन्या समजुती व चालीरीती यांना खो मिळत होता आणि वाढत्या स्त्री-

शिक्षणामुळे पूर्वी समाजांत स्त्री व पुरुष यांच्यांत जो पडदा होता तो आतां हळूहळू बाजूला सरकत होता. शासनव्यवस्थेतील शांतता, सुवृत्ता व सुरक्षितता या व्यक्तिस्वातंत्र्याच्या कल्पनेला पोषकच होत्या. तेव्हां नव्या कुटुंबव्यवस्थेत व्यक्ति ही स्वतंत्र बनली आणि स्वावलंबनामुळे तिच्या विचारांत तेज आणि वाणींत ओज संचार करूं लागले. तिचें स्वत्व उदयाला आलें. तिचा स्वाभिमान जागृत झाला. आणि जर का कोणी त्याला धक्का लावला, तर अंतःस्फूर्तीच्या ( inspiration ) उसळीसरशीं तिच्या अंतःकरणांतील खोल अशा वृत्ति उचंबळून येऊं लागल्या आणि मुखावाटे सहजोद्गार बाहेर पडूं लागले. पूर्वीच्या पिढीतील कवि व्यक्तिमत्त्वाला पारखा होता. या पिढीतील कवीचें व्यक्तिमत्त्व त्याच्या काव्यांत प्रतिबिंबित होत होतें. पूर्वीचा कवि तिन्हाइताच्या नात्यानें इंग्रजी कवितेचें भाषांतर किंवा रूपांतर करीत होता. आतांचा कवि त्या कवितेतील भावनेशीं समरस होऊन त्या घाटणीवर एकादी कविता लिहित होता किंवा सर्वस्वी स्वतंत्र असें एकादें गीत गात होता. राज्यकर्त्यांनीं या देशांत नव्यानेंच आणलेल्या मुद्रणयंत्रामुळे आतां दिवसेंदिवस गद्य बाळसेदार होत होतें. पद्याची चहा कमी होत होती. अशा प्रसंगीं केशवसुतांसारख्या स्वयंसंपन्न कवीला Scott च्या The Lay of the Last Minstrel वरून काव्यस्फूर्ति होत होती. परंतु ती तिन्हाईतपणाची नव्हती. ती तादात्म्याची होती :—

“ Old times were changed, old manners gone;  
A wandering Harper, scorned and poor,  
He begged his bread from door to door,  
And turned to please a peasant's ear,  
The harp, a King had loved to hear ”

या ओळींवरूनच

गाणें जें परिभाषया कविपुढें राजेशही वांकले

हे उद्गार स्फुरत होते. आणि



Then he would sing achievements high,  
And circumstances of chivalry,  
And noble youth, the strain to hear,  
The pitying dutchess praised its chime,  
And gave him heart, and gave him time

या ओळींवरून

आशा, प्रेम तसेंच वीर्य कवनीं तो आपुल्या गाइल;  
गेलें वैभव गाउनी स्फुरण तो युष्मन्मना देइल;  
द्या उत्तेजन हो कवीस, न करा गाणें तयाचें मुकें

या ओळी स्फुरत होत्या. जुन्या कवीचे विचार नवे तर ते व्यक्त करण्याचें वळण जुनें होतें. उलट नव्या कवीचे विचार जसे नवे तसें ते व्यक्त करण्याचें वळण नवेंच होतें. तेव्हां साहजिकच दुसऱ्या पिढीतील कवितेच्या विचारांत, भावनांत आणि भाषेत जें सामर्थ्य, जें सौंदर्य आणि जें ऐश्वर्य अनुभवास येत नाही, तें तिसऱ्या पिढीतील कवितेत प्रत्यक्ष दिसतें.

या पिढीनें काव्यलेखन हेंच आपलें जीवितकार्य आणि ध्येय निश्चित केलें होतें. काव्यविषयाशीं ती अगदीं एकजीव झाली होती, याच्या साक्षी तिच्या कवितासंग्रहांत व पत्रव्यवहारांत सांपडतात. या पिढीला कवितेचें इतकें 'वेड' होतें कीं, केशवसुत, चंद्रशेखर, दत्त व रेंदाळकर यांनीं तिच्यावर वनितेचा आरोप करून तिला निरनिराळ्या प्रकारांनीं आळविलें आहे. तेव्हां प्रेरक परिस्थिति आणि भावनेची प्रबळ स्फूर्ति यांच्या समन्वयानें या पिढीची कविता निर्माण झाली असल्यामुळें ती अत्यंत उत्कट आहे.

भावनेच्या आवेगांत निर्माण झालेली ही कविता अर्थातच अनलंकृत आहे. तिच्यांत वृत्तवैचित्र्य आहे, भाषावैभव आहे आणि विचारांची विविधता आहे. परंतु कलाकुसर कमी आहे. चंद्रशेखरांसारखा एकादा कवि या विधानास अपवाद असेल. पण एकंदर कविता कृत्रिम कलाकुशलतेपेक्षां स्वाभाविक भावनेवर अधिष्ठित असल्यामुळें सहजसुंदर व मूळमधुर उतरली आहे.

स्थूलमानानें ही कविता दोन प्रकारांनीं अभिव्यक्त झाली आहे : कवि ज्यांत स्वतःशींच चिंतन करीत स्वतःलाच काव्यविषय बनवतो आणि स्वतःला आवडतील अशा विचारांचें वातावरण उत्पन्न करतो, तो पहिला प्रकार; आणि ज्यांत बाह्य जगाशीं अथवा अन्य व्यक्तीशीं आपला संबंध प्रस्थापित करून त्याच्याविषयीं सहकंप प्रकट करतो, तो दुसरा प्रकार. कधीं कधीं या दोन्ही प्रकारांचा सुंदर संयोग होऊन एक तिसराच प्रकार प्रत्ययास येतो. केशवसुतांच्या 'भृंग', 'फुलपांखरूं', 'पुष्पास' आदि कविता या तिसऱ्या प्रकारांत मोडतात. पहिल्या प्रकारांतील अंतर्मुखता आणि दुसऱ्या प्रकारांतील बहिर्मुखता यांच्या मीलनानें या प्रकारांत भावना व कल्पना यांची सरमिसळ होत असते. कित्येकदां ती स्पष्ट व व्यवस्थित होत नाहीं. पुन्हां तिच्यांत सूत्रबद्ध भाषेची भर पडते. तेव्हां या प्रकारच्या कवितांचा आस्वाद व्यावयास रसिकानें कवीच्या मनःस्थितीशीं एकरूप होणें आवश्यक असतें. केशवसुतांच्या उपर्युक्त कवितांतील वस्तु निसर्गांतील असल्या, तरी त्या कविता निसर्गविषयक नाहीत, हें कांहीं आलोचकांच्या ध्यानांत आलेलें नाही. वस्तुस्थिति अशी आहे की, या पिढींतील कवींनीं स्वानंद व स्वच्छंद कवितालेखन केलें आहे. तें करतांना कवितेचा वर्गविशेष अथवा प्रकारविशेष यांकडे त्यांचें कांटेकोरपणानें लक्ष नव्हतें. कारण त्यांना कविता निर्माण करावयाची होती. कवितेचे विषयवार वर्ग किंवा काव्यप्रकार निर्माण करावयाचे नव्हते.

ही कविता भावनेतून प्रस्फुरित झाल्यामुळें साहजिकच त्रुटित व सुटसुटीत आहे. तिच्यांतून बहुधा मनोलेखन व तत्त्वविवेचन झालें आहे. मनोलेखनाचें कारण या पिढींतील कवींची प्रवृत्तिपरता होय. पुन्हा इंग्लिश समाजाच्या संपर्कानें स्त्रीकडे पाहण्याचा उदार व दक्षिण दृष्टिकोणहि आणखी एक कारण आहे. तो या पिढींतील कवींचे कवितासंग्रह चाळल्यास चटकन् दृष्टीस पडेल. गोविंदाग्रज व रेंदाळकर या वयानें कनिष्ठ असलेल्या कवींच्या काव्यांत थोडा निराळा दृष्टिकोण दिसेल. याचें कारण प्रेमभावनेची त्यांची व्यक्तिगत कल्पना व तिची विफलता यांत आहे. स्त्रीपुरुषप्रेमाचें साकार स्वरूप जें वात्सल्य त्याचेंहि दर्शन टिळक पतिपत्नी, तांबे, दत्त व बालकवि यांच्या कवितांत होईल.



निसर्गाविषयींची ओढ हा या पिढीतील कवींच्या काव्याचा आणखी एक विशेष आहे. तो अर्थातच वर्डस्वर्थ किंवा इमर्सन् यांच्या वाचनाने आला आहे. या काव्यांत तत्त्वविवेचनाची आवड दिसते, ती पश्चिमेकडील आहे.

‘ जेथे ओढे वनराजी । वृत्ति रमे तेथे माझी ’

किंवा,

‘ वरें राहणें निर्जन रानीं । ओढ्यासंगें गाणें गाणीं ’

अथवा,

‘ सख्ये या स्थानीं  
बसावें वाटे दिनरजनी  
पर्णकुटी बांधुनि तरुतलीं  
गिरिवर हरिभजनीं

किंवा,

‘ निर्झरमय काननमय गायनमय दिव्य जाहला देह ’

हे उद्गार त्याच तत्त्वचिंतनांतून बाहेर पडले आहेत.

या कवींच्या काव्यविषयक विवेचनांत कित्येकदां ‘ केशवसुतांचा संप्रदाय ’ हा प्रयोग कार्नी पडतो. केशवसुत हे या पिढीतील एक प्रतिभासंपन्न अग्रेसर कवि होते हे खरें. त्यांच्या वाणींत प्रोत्साहक पौरुष व संजीवक चैतन्य आहे यांत शंका नाही. परंतु स्वतः त्यांनीं एकाद्या विशिष्ट मतप्रणालीच्या प्रचाराकरितां असा एकादा संप्रदाय काढला होता, असा इतिहासांत कुठेंहि आधार नाही. केशवसुत दिवंगत झाल्यावर ‘ मनोरंजन ’ पु. ११ भा. ७ मध्ये त्यांच्यावर आणि त्यांच्या काव्यावर जो पहिलाच लेख आला त्यांत, किंवा आपट्यांनीं त्यांची कविता पुस्तकरूपानें प्रसिद्ध केल्यावर डॉ. गुणे, रहाळकर व प्रि. वै. का. राजवाडे यांनीं त्यांच्या समालोचनपर जे लेख लिहिले त्यांत, कुठेंहि हा प्रयोग आढळत नाही. केशवसुतांच्या पश्चात् १९१३ मध्ये गोविंदाग्रजांनीं प्रथम ‘ मनोरंजनां ’त ‘ केशवसुत

कसले मेले ? केशवसुत गातचि वसले ' आणि ' केशवपुत्राचा महशूर-  
गोविंदाग्रज चेला सच्चा ' असे उद्गार दोन निरनिराळ्या कवितांत  
काढून त्या संप्रदायाची मुहूर्तमेढ रोविली आणि एक तुतारीमंडळ  
स्थापन केलें. बालकवि, भालचंद्र आणि कीर्तने हे या मंडळाचे सदस्य  
होते. रे. टिळकांचा या मंडळाशीं अर्थाअर्थीं कांहीं संबंध नव्हता, हें त्यांनीं  
'मनोरंजनां'त बालकवीवर जो मृत्युलेख लिहिला आहे त्यावरून स्पष्ट होईल.  
पुढें १९२० च्या आगेंमागें ' आधुनिक कविपंचक ' प्रसिद्ध झालें आणि  
' केशवसुतांचा संप्रदाय ' हा प्रयोग सर्रास होऊं लागला.

वस्तुतः टिळक, केशवसुत, माधवानुज व विनायक यांचा एकमेकांशीं  
चांगला घनिष्ठ संबंध होता. १९०७ च्या जळगांवच्या कवि-संमेलनांत  
ठोमऱ्यांना बालकवि ही पदवी मिळाली. त्यांत टिळक, माधवानुज, चंद्र-  
शेखर, विनायक, तांबे, बालकवि हे उपस्थित होते. दत्त व केशवसुत हे  
यापूर्वीच दिवंगत झाले होते. केशवसुत हे उज्जयनीला आपल्या बंधूंकडे  
जातांना वाटेंत इंदुरास तांब्यांना भेटले होते आणि त्यांच्या ' गेली ज्योति  
विज्ञोनिया ' या सॉनेटची प्रशंसा केली होती, असें रहाळकरांनीं नमूद केलें  
आहे. यांच्यापेक्षां वयानें कनिष्ठ असलेले गोविंदाग्रज व बालकवि यांचा  
स्नेहसंबंध सुप्रसिद्धच आहे. हे कांहींसे समवयस्क व समकालीन सर्वच कवि  
मनानें निर्मल, निर्मत्सर व निरभिमान होते. म्हणूनच टिळकांनीं केशवसुतांना  
उद्देशून तीन कविता लिहिल्या आहेत आणि 'बी'नीं 'कविवंदन' या आपल्या  
कवितेंत गोविंदाग्रज व बालकवि यांच्या प्रतिभेचा गौरव केला आहे.

या कवींच्या कविता एकाच काळीं आरंभीं ' काव्यरत्नावलि ' व  
' करमणूक ' यांतून आणि पुढें ' सुविचारसमागम ' व ' मनोरंजन ' यांतून प्रसिद्धि  
पावत होत्या. तेव्हां त्या एकमेकांच्या दृष्टीला पडत होत्या आणि त्यांचें  
थोडेंफार अनुकरण होत होतें. केशवसुतांचे ' सतारीचे बोल ' आणि  
विनायकाचा ' सुवास ' किंवा पहिल्याची ' पृथ्वी, स्वर्ग आणि मनुष्य ' आणि  
दुसऱ्याच्या ' ध्यास तो भास ' या कवितेंतील एक कल्पना यांत विलक्षण साम्य  
आहे. केशवसुतांची ' दिवाळी ' आणि दत्तांची ' दिवाळी ' यांचा आरंभ सारखा  
आहे. ' लुटपुटीच्या घरिंदारीं-लटाकिच झाल्यें संसारी ' ही केशवसुतांच्या  
' हरपलें श्रेयां 'तील कल्पना दत्तांच्या बाललेखनांतील ' लुटपुटिचें घरदार पुढें

आलें ' या कल्पनेशीं मिळती-जुळती आहे. दत्तांच्या कविता अगोदरच्या आहेत केशवसुतांप्रमाणें माधवानुजांनीं पद्यपांक्ति रचल्या आहेत आणि सुनीतें लिहिलीं आहेत. तांब्यांनींही सुनीतें लिहिलीं आहेत. अशा प्रकारें माधवानुज व तांब्रे यांनीं आपल्या सहकाऱ्यांनं आणलेल्या एका काव्यप्रकारास साहाय्य केलें आहे. म्हणून ते त्यांच्या संप्रदायांत होते असें म्हणतां येत नाहीं. केशवसुतांचीं सुनीतें मिल्टॉनिक पद्धतीचीं होतीं. त्यांचा आरंभ निवेदनात्मक आहे. परंतु तांब्यांनीं शेक्सपिरिअन पद्धतीचीं संवेदनात्मक सहजोद्गारी सुनीतें लिहिलीं आहेत. चंद्रशेखरांची ' दुर्व्यसनी गृहस्थाची गृहिणी ' ही आरंभीची कविता आणि तांब्यांची ' मार्गप्रतीक्षा ' ही आरंभीची कविता या दोन कवितांत सारखेपणा आहे; केशवसुतांचा ' झपूझा ' आहे तर ' बी ' चा पिंगा आहे; केशवसुतांची ' तुतारी ' आहे तर टिळकांचें ' रणाशिंग', वींचा ' डंका', गोविंदाग्रजांचा ' दसरा' आणि बालकवींचा ' धर्मवीर' आहे. यांत परस्परांनुकरण आहे यांत शंका नाही. परंतु या बाबतींत अनुकृति हा स्वभाव आहे आणि तो उत्तम आहे, आणि प्रतिकृति हा विकार आहे आणि तो अधम आहे, हें सत्य लक्षांत घेतलें पाहिजे. एकाद्या ठिकाणीं अनेक तंतुवाद्यें असलीं आणि त्यांवरून वायूची एकादी लहर निसटली कीं, ज्याप्रमाणें त्यांचे स्वर परस्परांतून प्रतिनादित होऊं लागतात, त्याचप्रमाणें समकालीन कवींच्या कवितांत सुसंवाद कार्नी पडतो.

वास्तविक विचार केला तर या सर्व कवींचा पिंड आपआपल्या परीं स्वतंत्र होता. आणि यांपैकीं प्रत्येकानें आधुनिक कवितेला कांहीं ना कांहीं विशेष प्रदान केलें आहे. टिळकांनीं तिला तत्त्वज्ञान दिलें, तर लक्ष्मी-वाईंनीं तिच्यांत प्रेमळपणा ओतला. केशवसुतांनीं तिला अंतर्मुखता शिकविली, तर माधवानुजांनीं तिला काव्यमय बोध कसा असतो हें दाखविलें. चंद्रशेखरांनीं तिला आकर्षक निवेदनपद्धति सांगितली, तर विनायकांनीं तिला राष्ट्रवादाचें महत्त्व पटवून दिलें. वींनीं तिला वैचारिकता दिली, तर तांब्यांनीं तिला भावनिकता अर्पण केली. दत्तांनीं तिला वत्सलतेची जाणीव करून दिली, तर गोविंदाग्रजांनीं तिला कल्पनेचा साज चढाविला. रेंदाळकरांनीं तिच्या पायांतील शृंखला दूर केल्या, तर बालकवींनीं

सृष्टीचें सौंदर्य तिच्या निदर्शनास आणलें. तात्पर्य, या वारा कवींनीं तिला सर्वांगीण सुंदर करण्याच्या प्रयत्नांची पराकाष्ठा केली आहे. तिचें तें सर्वांगीण सुंदर स्वरूप त्या काळीं जसें लोकप्रिय होतें, तसेंच तें आजदेखील आहे. तेंच आधुनिक कवितेचें खरेंखुरें रूप आहे, असें आजहि रसिक ओळखतात.

— भ. श्री. पांडित.

•      ✽ ✽ ✽



## रे. नारायण वामना टिळक

### १ : कुणास्तव कुणीतरी

सरोष घन वर्षती, तरुलतांशि वारो झुजे,  
विराम नच ठाउका क्षणाहि नाचतांना विजे;  
भयानकाचि संचरे सकल सृष्टि हो घावरी  
कुणास्तव कुणीतरी सभय वाट पाहे घरीं !

खप्रतिरवामुळें बधिर जीव सारे जरी;  
निनाद करिते अहा ! श्रवण चाहुलीचा तरी;  
उठे दचकुनी ताडित् दुसरि नर्तनाला करी,  
कुणास्तव कुणीतरी कितिक येरझारा करी !

खुशाल कर वृष्टिला, तुज न तो भिणारा घना !  
पिशाचसम तूं खुशाल कर गे विजे नर्तना !  
महीधर समीरणा ! धरुनि लोळवीं भूवरी,  
कुणास्तव कुणीतरी निघत यावयाला घरीं !

घनप्रसर माजला, नाभिं न एक तारा दिसे,  
परंतु हसरा सदा सुखद चंद्र गेहीं वसे;  
अहा द्रवविता कुणा सहज चंद्रकान्ताप्रती  
कुणास बधुनी कुणीतरि हसेल हर्षे किती !

अहा चरणधावना कलशपूर्ण उष्णोदके  
रुचिप्रद वरान्न जें करिल हो सुधेला फिकें !  
फुलांहुनि मऊ असें शयन रम्य मंचावरी,  
कुणास्तव कुणीतरी घरिं अशी तयारी करी.

रसाळ वचनावली विविध तोंडिं लावावया  
मिळेलं, उपमा उरे मग न भोजनाला तथा  
पडेल मग विस्मृती सकलही श्रमांची क्षणीं,  
कुणाप्रति कुणीतरी निरखितां प्रसन्नेक्षणीं !

तथा प्रणयनिर्झरा प्रणयनिर्झरीला तिला  
सदा सुखद भोंवरा विहरण्यास ऐशा मुला  
बळेंच उठवी कुणी ! उभयतांस आलिंगुनी  
कुणीतरि धरील तें विषय अन्य कैचा मनीं !

तमास अपसारुनी उन पडेल त्या मंदिरीं,  
तशांत पडतील हो मधुनि पावसाच्या सरी,  
कुणीतरि धरोनियां कर करीं कुणाचा तरी,  
स्तवील परमेश्वरा जल-द, सूर्य ज्याच्या करीं

★ ★ ★

२ : केवढें हें कौर्य !

क्षणोक्षणं पडे, उठे परि बळें, उडे बापडी,  
चुके पथहि येउनी स्तिमित दृष्टिला झांपडी;  
किती घळघळां गळे रुधिर कोमलांगांतुनी,  
तशीच निजकोटरा परत पातली पक्षिणी.

म्हणे निजशिशूप्रती ' अधिक बोलवेना मला,  
तुम्हांस अजि अंतिंचा कवळ एक मीं आणिला;  
कारा मधुर हा ! चला ! भरवितें तुम्हां एकदा  
करो जतन यांपुढें प्रभु पिता अनाथा सदा !

अहा ! मधुर गाउनी रमविलें सकाळीं जनां,  
 कृतघ्न मज मारितील नच ही मनीं कल्पना !  
 तुम्हांस्तव मुखीं सुखें धरुनि घांस झाडावरी  
 क्षणैक वसलें न तों, शिरत वाण माझ्या उरीं !

निघून नरजातिला रमविण्यांत गेलें वय,  
 म्हणून वधिलें मला ! किती दया ! कसा हा नय !  
 उदार बहु शूर हा नर खरोखरी जाहला  
 वधून मज पांखरा निरपराध कीं दुर्बला !

म्हणाल भुलली जगा, विसरली प्रियां लेकरां,  
 म्हणून अतिसंकटें उडत पातलें मी घरा;  
 नसे लव्हि उष्णता, नच कुशींत माझ्या शिरा,  
 स्मरा मजवरोवरी परि दयाघना ईश्वरा.'

असो; रुधिर वाहुनी नच भिजो सुशय्या तरी  
 म्हणून तरुच्या तळीं निजलि ती द्विजा भूवरी;  
 जिवंत बहु वोलकें किति सुरम्य तें उत्पल  
 नरें धरुनि नाशिलें, खाचित थोर बुद्धी, बल.

मार्तींत ते पसरले अतिरम्य पंख,  
 केलें वरी उदर पांडुर निष्कलंक !  
 चंचू तशीच उघडी, पद लांबवीले,  
 निष्प्राण देह पडला, श्रमही निमाले !

## ३ : बोंबाबोंब

खालीं वरतीं जावें यावें । विश्वनियम, हें सकलां ठावें;  
पतनावांचुन । नच उत्थापन; । कां मग बोंबाबोंब ?

किती युगांची नीज असेना—। उघडीलें ना अंतीं नयना ?  
मरणावांचुन । नच संजीवन; । कां मग बोंबाबोंब ?

विषवृक्षांचे मळे लाविले, । निजरुधिरानें जरी शिंपिले,  
तरी संप्रती । कुन्हाड हातीं ! । कां मग बोंबाबोंब ?

चिखल फांसिला कलश घांसिला, । अधिकाधिक तो उज्वल झाला,  
मानहती ती । मानप्राप्ति । कां मग बोंबाबोंब ?

अमोघफलदा या अनुभूति, । मूल्यावांचुन लभ्य न जगतीं,  
केला विनिमय । अवघा हितमय; । कां मग बोंबाबोंब ?

भिन्न दिशाहीं सरिता, नाले, । किती जरी हे वाहत गेले,  
एक नदीपति । सकलां पुढतीं; । कां मग बोंबाबोंब ?

अंधाराचा सर्व पसारा । खरा, परंतू त्यांतच तारा—  
या इवलाल्या । खुळूं लागल्या; । कां मग बोंबाबोंब ?

किती वादळें आलीं गेलीं, । तरी नाव जी नाहीं फुटली,  
दूर जरी तट, । तरि ही बळकट । कां मग बोंबाबोंब ?

गेलों मेलों ठार बुडालों ! । क्यौं यह वक्त्रा ? ' जय जय ' बोली  
नैराश्योद्भव । आशावैभव; । कां मग बोंबाबोंब ?

होतें जें जें, आहे जें जें, । तें तें स्मृतिगत मात्र विराजे;  
काल सनातन, । तसेच आपण; । कां मग बोंबाबोंब ?



## ४ : महारथी

तुझ्यासम महारथी वधुन एकला निष्क्रिय,  
अहर्निश मला गड्या, परमदुःख हो विस्मय;  
पुढें रथ विलोलसा, सुखद, दिव्य संसार हा !  
पहा, न मुनिसारखा जगिं उगा बसोनी रहा.

बनेन तव सारथी तुज जपेन जीवापरी,  
असो सरल मार्ग, वा गिरि असो, असो वा दरी;  
जगजनकयोजना, तशि मदीय उद्योगिता  
रथा सबल आश्विनी, करुं नको विलंबा अतां !

पहा, ' इह ' ' परत्र ' हीं उभय रम्य चक्रे क्विती !  
न केवळ विभूषणें, परि रथास देती गति;  
सदा तुजपुढें उभा जुळुन मी करां सारथी,  
त्यजून भय, हो पुढें ! धर वधूं सुवीरा धृति !

तुला मृदु विशेषणीं कवि सदैव संबोधित्ती,  
म्हणून दिसतें मला तवाहि भीरु झाली मति;  
पुरे ! त्यजुनि मोह हा समजुनी स्वरूपा निजा  
स्वकार्यरत हो वधूं ! अनुग सारथी मी तुझा !

\* \* \*

## ५ : माझ्या जन्मभूमीचें नांव

सृष्टी तुला वाहुनी धन्य ! माते, अशी रूपसम्पन्न तूं निस्तुला  
तूं कामधेनू ! खरी कल्पवल्ली ! सदा लोभला लोक सारा तुला;  
या वैभवाला तुझ्या पाहुनीयां मला स्फूर्ति नृत्यार्थ होते जरी  
सामर्थ्य नामीं तुझ्या आर्यभूमी, तसें पाहिलें मीं न कोठें तरी !

माते ! महात्मे तुझे, तत्त्ववेत्ते, तुझे शूर योद्धे, तुझे सत्कवि,  
श्रेणी ययांची सदा माझिया गे मना पूजनीं आपुल्या वांकवी !  
यांचीं यशें ज्या नव्या सद्गुणांना मला अर्पिती, ध्येय ते गे जरी,  
सामर्थ्य नामीं तुझ्या आर्यभूमी, तसें पाहिलें मीं न कोठें तरी !

तुझ्या महोदार सारस्वताच्या महासागरींचा जरी मीन मी  
झालों, तरी गे तृषा मन्मनाची कधींही कधींही न होणें कमी !  
आई ! गुरुस्थान अन्तीं जगाचें तुझें ! यांत शंका न कांहीं तरी  
सामर्थ्य नामीं तुझ्या आर्यभूमी, तसें पाहिलें मीं न कोठें तरी !

वारा तुझ्या स्पर्शनें शुद्ध झाला मला लाधला ! भाग्य हें केवढें !  
माते ! स्वयें देशि जें अन्नपाणी, सुधा बापुडी कायशी त्यापुढें !  
तूं वाल्मीकी मला स्कन्धि अंकी ! सुखाची खरी हीच सीमा पुरी !  
सामर्थ्य नामीं तुझ्या आर्यभूमी, तसें पाहिलें मीं न कोठें तरी !

६ : लोकमित्र

खरोखर लोकमित्र ते

सेवक आपण सकल जनाचे, ।  
स्वप्नीं ठाउक अन्य न अपुलें ज्यांस जर्गीं नातें.

उदार हृदयें गभीर वृत्ति, । जी जीवीं ती सत्यीं प्रीति;  
रत्रिमंडलही भेदुन भूती संतत शोभे ते !

रुची न ज्यांची भिकार चितीं, । बुद्बुद केवळ ज्यांना कीर्ति,  
कार्य न ज्यांच्या क्षणही चितीं लोकहितापरतें.

लोकहितीं पितयाची चिंता, । संवर्धनिं मातेची ममता,  
धरिती जनपरिचर्या करितां सृष्टीसम समते.

जनसेवा ही ईश्वरसेवा, । याविण दुसरा हेतु न ठावा,  
प्रेम आणखी देव दिसावा एक सदा ज्यातें

धन्य ! धन्य ! या धन्य विभूति ! । प्राप्ती यांची स्वर्गप्राप्ति !  
देवा ! यांची भारतजगती वाट सदा बघते !

\* \* \*

# लक्ष्मीबाई टिळक

१ : कल्पना, विचार, शब्द

गाणें माझ्या अवडीचें  
बोला फुटक्या कवडीचें  
एक लकेरी गाण्याची  
ऐका खरि तर वेडीची  
ताल सूर ना त्या कांहीं  
वेड्यांचें गाणें हेंही  
आई वेडी बाप पिसा  
बाळ जन्मला तोहि तसा  
सर सर वर वर आइ चढे  
भर भर येउन खालि पडे  
बाप पहातो तिच्याकडे  
तोही गिरवी तेच धडे  
पोर तयांचें अजाण तें  
कांहींतरि बडबड करितें  
खरी कल्पना ती आई  
भर भर भर भर वर जाई  
ती पडतां मग बाप पुढें  
विचार डोळे मिटुन रडे  
आइ धडपडी बाप रड्या  
शब्द पोर मग मारि उड्या

हैं असलें गाणें माझें  
 मज वेडीस खरें साजे  
 गाणें माझ्या अवडीचें  
 बोला फुटक्या कवडीचें.

\* \* \*

२ : मी तुझी मावशी तुला न्यावया आलें

ही भरली घागर तुझ्या शिरावर बाळे !  
 तूं उभी ? लागले कुठें कुठें तव डोळे ?  
 ही गाडी वाजे खड खड खड खड दूर,  
 हें इकडे उडतें धड धड तवही ऊर !  
 तूं प्रसन्न आतां, क्षणें खिन्न तूं होशी,  
 मेघांत गवसला चंद्रच दुसरा दिसशी !

तूं अल्लड साधी पोर ! लाडके,  
 गुरुजनें कल्पिली थोर ! लाडके,  
 तुज कशास हा संसार ? लाडके,  
 हा दोन दिवस तारि टळो म्हणोनी झालें  
 मन अधीर गेलें माहेरा तव गेलें !

माहेरीं आपण भाउबिजेला जाऊं,  
 येतील न्यावया बाबा अथवा भाऊ,  
 हें प्रौढपणाचें ओझें फेंकुन देऊं  
 सुचतील तेवढे खेळ खेळुनी घेऊं

ही मनांत तुझिया वाई ! वासना  
मीं ओळखिलें का नाहीं ? सांग ना !  
भर वचूं पुन्हां अश्रूहीं ! लोचना  
ये हासत आतां आलिंगी मज बाळे !  
मी तुझी मावशी तुला न्यावया आलें !

\* \* \*

### ३ : कावळा

“ सकाळीं उठोनी तुझी काव काव  
भजशीं का देव सांग मला ? ”

“ देवाला भजतो, तुला ऊठवीतो  
नेम मी पाळीतो सदा त्याचे ”

“ काळा रंग तुझा कशानें रे झाला  
का रे तूं खेळला कोळशांत ?

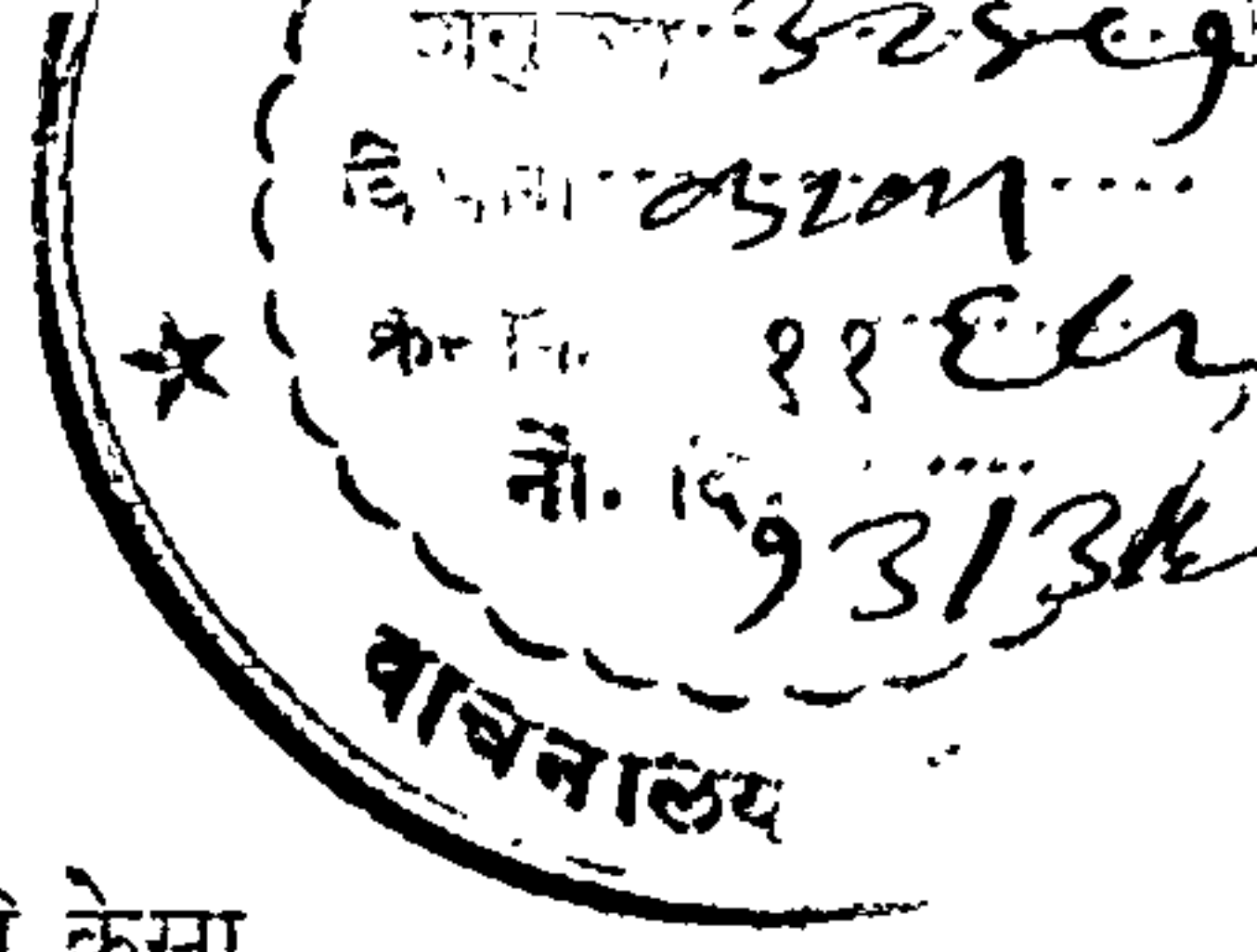
अंगावरी कोणीं ओतीली का शई,  
काळा काळा होई रंग तूझा ? ”

“ नाहीं रे शईचा नव्हे कोळशाचा  
देवाच्या इच्छेचा रंग माझा ! ”

\* \* \*

लक्ष्मीवाई टिळक

४ : धुंधुर्मासाची खिचडी



शिंदी रुसली बिंदीसाठीं पिंजारुनि केसा  
म्हणे मला द्या बिंदी आणुनि मग वांधिन केसा  
बिंदी कसली दोरी वांधुनि भर वाजारांत  
विकितों आतां तुला लावितों घरच्या कामांत  
पिंप्री ती तों झिप्या सोडुनि वाटेवरि आली  
थप्पड वसतां फोड ये तिला लालिलाल झाली  
तिच्या कारणें जटा वाढवुनि वड जोगी झाला  
ध्यान कराया आसन घालुनि तो रानीं वसला  
पिंपळ लागे भाऊ त्याचा त्यास राग आला  
दो हातांला चोळुनि काढी अग्नीच्या ज्वाला  
फणसाला हें सारें कळतां उभारला कांटा  
जांभुळ पडलें काळोटेकर, उस घेइ सोटा  
डाळिंबाला हसूं लोटलें तें विचकी दांतां  
शिंताफळाचे डोळे थकले हें बघतां बघतां  
भगवा झेंडा धरून हातीं कोंकणांत जाई  
तनिच पानें चवथें नाहीं, पळस खिन्न होई  
संपत्तीला उधळुन अपुल्या अंगाला राख  
लावुन वसला जन त्या भीती म्हणति करा खाक  
शेराला ती रुई मिळाली सवाइनी शेर  
त्या दोघांच्या जवळी वसला काळा शिरजोर

पिता तयाचा हिरवा, आई हळदीचा उंडा  
 पुत्र जन्मला काय करंटा सदा काळतोंडा  
 काजू, त्याच्या भावासम तो सारखीच करणी  
 चिडकें वरुनी गोड अंतरीं करिती मनधरणी  
 कशास नांवे ठेवा यांना उपयोगी पडती  
 दुखल्या खुपल्या साह्य कराया धावुनिया येती

★ ★ ★



# केशवसुत

( कृष्णाजी केशव दामले )

## १ : मजुरावर उपासमारीची पाळी

धारेवरी जाउनि देव पोंचला,  
हा रंगही मावळतेस साजला,  
सर्वत्र ही मौज पहा ! दिसे परी  
माझ्याच कां दुःख भरे बरें उरीं ?

साऱ्या दिनीं आजचिया नसे मुळीं  
हातास माझ्या कवडीहि लाभली;  
पोटा, करोनी मजुरीस, मी भरीं;  
कोणीं दिलें आज न काम हो परी !

हीं मन्दिरें हो खुलतात चांगलीं;  
माझ्या वडीलींच न काय बांधिलीं ?  
मी मात्र हो आज मरें भुकेमुळें;  
श्रीमंत हे नाचति मन्दिरां भले !

हेवा तयांचा मजला मुळीं नसे,  
जाडी मला भाकर ती पुरे असे;  
कष्टांत देवा ! मरण्यास तत्पर  
कां मारिसी हाय ! भुकेमुळें तर ?

सर्वास देवा ! बघतोसि सारखा,  
होतोस कां रे गरिबांस पारखा ?

कांहींस सुग्रास सदन्न तूं दिलें,  
साधी अम्हां भाकरही न कां मिळे ?

घेवोनि चारा अपुल्या पिलांप्रती  
जाती अहा ! पक्षि सुखी घरीं किती;  
बाळांस हें दावुनि कारभारिण  
कैसें तयां देत असेल सांगुन ?—

“ पक्षी जसे हे घरट्यास चालती  
घेवोनि चारा अपुल्या पिलांप्रती,  
घेवोनि अन्ना, तुमचा तसा पिता  
येईल तो लौकरि हो, रडूं नका ! ”

हे लाडके ! आणिक लाडक्यांनो !  
दावूं तुम्हां तोंड कसें फिरोन ?  
जन्मास मी काय म्हणोनि आलों ?  
येतांच वा कां न मरोनि गेलों ?

७ जानेवारी १८८९

★ ★ ★

२ : रा. रा. बळवंत आपाजी दाते यांस

दाते ! धन्य तुझी तुला प्रसवुनी माता असे जाहली,  
ज्या अर्थी हृदयीं तुझ्या वसतसे भूमातृभक्ती भली;  
त्वन्नेत्रीं चमके तडित् अभिनयीं वारें अहा ! खेळतें,  
उद्गारांतुनि गर्जना निघुनियां ती या जना स्तम्भिते !

जोराची तव शब्दवृष्टि पडतां आत्म्यावरी माझिया,  
चिन्ताघ्रीष्म समग्रही धुवनियां तो जाय तेथूनियां,  
“ देशालागुनि आपुल्या सुदिन ते येतील केव्हां तरी, ”  
आशांचे असल्या सदंकुर पहा ! येती मदात्म्यावरी !

होती श्रेष्ठ पदास आर्यजननी जी एकदां पावली,  
दुर्दैवे परि जी विपद्गणशतीं सध्यां असे गांजिली,  
तीचें दुःख जरा तरी शमविण्या, आम्हांस या भूवरी  
ढाळायस सखेद लोचनजलें तूं धीर आज्ञा करीं !

टाकी हाणुनि आमुची शिथिलता वक्तृत्ववज्रें तव,  
स्फूर्तीनें निज त्या स्वबांधवजना सामर्थ्य दे तूं नव;  
“ ऐसें बांधव काय हो बघतसां ! आतां उठा लौकरी ! ”  
कर्तव्यास जनांस जागृत करीं शब्दीं अशा निर्भरीं !

“ हे आम्ही उठलों ! चला तर पुढें ! देशार्थ कार्यां मरूं ! ”  
या त्वत्प्रेरित रे समुत्सुक वचीं व्योमावकाशा मरूं !  
“ जैजैकार असो तुझा भरतभू ! ” हा घोष जेव्हां करूं;  
जैजैकारुनि नामही प्रिय तुझें दाते ! तधीं आदरूं !

पुणे, १८८९

\* \* \*

### ३ : सिंहावलोकन

मुखा फिरवुनी, जरा वळुनि पाहतां मागुती,  
कितीक हृदये वदा चरकल्याविणें राहती ?  
‘ नको वळुनि पाहणें ! ’ म्हणुनि दृग् जरी आवरूं,  
धुकें पुढिल जाणुनी मन न घे तसेंही करूं !

प्रदेश किति मागुते रुचिर ते बरें टाकिले,  
 कितिक तटिनीतटें श्रम जिथें अम्हीं वारिले;  
 किति स्मृतिस धन्यतास्पद वनस्थली राहिल्या,  
 जिथें धवालिता निशा प्रियजनासवें भोगिल्या !

सुखें न मिळतील तीं फिरुनि !—तीं जरी लाविती,  
 मनास चटका, तरी नयन त्यांवरी लोभती.  
 परन्तु हृदयास जे त्वरित जाउनी झोंवती,  
 प्रमाद, दिसतां असे, नयन हे मिटूं पाहती !

कित्ती घसरलों !—कित्ती चुकानि शब्द ते बोललों !—  
 करुनि भलतें कित्ती पतित हंत ! हे जाहलों !  
 स्वयें बहकुनी उगा स्वजनमानसें टोंचिलीं !—  
 वृथा स्वजनलोचनीं अहह ! आंसवें आणिलीं !

चुकोनि घडलें चुको ! परि, ' असें नव्हे हें बरें '  
 वदूनिहि कित्तीकदां निजकरेंचि केलें बरें !—  
 म्हणूनिच अम्हांपुढें घनतमिस्र सारें दिसे,  
 पुढें उचलण्या पदा धृति मुळींहि आम्हां नसे !

“ चुकी भरुनि काढणें फिरुनि, हें घडेना कधीं ”  
 विनिष्टुर असें भरे प्रगट तत्त्व चित्तामधीं !—  
 म्हणूनि अनिवार हें नयनवारि जें वाहतें,  
 असे अहह ! शक्त का कवणही टिपायास तें ?

चळणें, ३ मे १८९०

★ ★ ★

## ४ : क्षणांत नाहीसे होणारे दिव्य भास

आत्माराम सुखें वनामधुनि तो होता जरा हिंडत,  
तो झाला वधता दुरूनि सहसा कोण्या सुमूर्तिप्रत;  
तीच्यामागुनि मोडुनी हळुहळू जायास तो लागला,  
“आहे ही पण कोण ?” या क्षणभरी प्रश्नावरी थांबला.

“रम्भे !” “उर्वशि गे !”—तशींच दुसरीं जीं त्यास होतीं प्रियें  
नामें, त्यांतिल घेउनी फिरुनि तो बाही त्वरेनें तिये;  
ती कांहीं तरिही वळे न, वधुनी तो विस्मया पावला;  
जातां सन्निध, “ही नवीनाचि अहा ! कोणी दिसे” वोलला !  
कांहीं नांव नवीन देउनि तिला जेव्हां तयें वाहिलें,  
तो तीनें वळुनी प्रसन्न वदनें त्याच्याकडे पाहिलें;  
त्या रूपद्युतिनें दिपूनि नयनें निर्वाण तो पावला,  
तो अन्तर्हित, दृष्टिचा विषय तो एका क्षणीं जाहला !

आकाची इतुक्यांत हांक परसे आत्मा, घराला वळे;  
आकाच्या हुकुमांत, साक्ष अवघी ती विस्मरुनी, रुळे;  
कोणेका दिवशीं तिथेंच फिरतां ती गोष्ट त्याला स्मरे,  
तच्चितीं, पण रूप नाम अथवा तीचें मुळींही नुरे !

आत्माराम सखेद होउनि वदे तो आपणाशीं असें—  
“कांहीं सुन्दर देखिलें खचित मीं, यामाजि शंका नसे !  
हा ! हा !—हे जर सर्व भास धरतां येतील मातें, तर  
पृथ्वीचा सुरलोक कीं बनवुनी टाकीन मी सत्वर !”

मुंबई, २४ मार्च १८९३

\* \* \*



## ५ : नवा शिपाई

नव्या मनूंतिल नव्या दमाचा शूर शिपाई आहे,  
कोण मला वठणीला आणू शकतो तें मी पाहें !  
ब्राह्मण नाहीं, हिंदुहि नाहीं, न मी एक पंथाचा,  
तेच पतित कीं जे आंखडिती प्रदेश साकल्याचा !

खादाड असे माझी भूक,  
चतकोरानें मला न सूख;  
कृपांतिल मी नच मंडूक;

मळ्यास माझ्या कुंपण पडणें अगदीं न मला साहे !  
कोण मला वठणीला आणू शकतो तें मी पाहें !

जिकडे जावें तिकडे माझीं भावंडे आहेत,  
सर्वत्र खुणा माझ्या घरच्या मजला दिसताहेत;  
कोठेही जा—पायाखालीं तृणावृता भू दिसते;  
कोठेही जा—डोईवरतें दिसतें नीलांबर तें !

सांवलींत गोजिरीं मुलें,  
उन्हांत दिसती गोड फुलें,  
वघतां मन हर्षून डुले;

तीं माझीं, मी त्यांचा,—एकच ओघ अम्हांतुनि वाहे !  
नव्या मनूंतिल नव्या दमाचा शूर शिपाई आहे !

पूजितसें मी कवणाला ?—तर मी पूर्वीं अपुल्याला,  
अपुल्यामध्ये विश्व पाहुनी पूर्वीं मी विश्वाला;  
'मी' हा शब्दच मजला नलगे; संपुष्टीं हे लोक  
आणुनि तो, निजशिरीं ओढिती अनर्थ भलते देख !

लहानमोठें मज न कळे,  
साधुअधम हें द्वयहि गळे,  
दूरजवळ हा भाव पळे;

सर्वच मोठें-साधु-जवळ, त्या सकलीं मी भरुनी राहें !  
कोण मला वठणीला आणूं शकतो तें मी पाहें !  
हलवा करितां तिळावर जसे कण चढती पाकाचे,  
अहंस्फूर्तिच्या केन्द्रांभवतें वेष्टन तेंवि जडाचें;  
आंत समाचि निर्गुण तिलक, वरी सदृश सगुण तो पाक,  
परि अन्यां बोंचाया धरितो कांटे कीं प्रत्येक !

अशी स्थिती ही असे जनीं !  
कलह कसा जाइल मिटुनी ?  
चिंता वागे हीच मनीं.

शान्तीचें साम्राज्य स्थापूं बघत काळ जो आहे.  
प्रेषित त्याचा नव्या दमाचा शूर शिपाई आहे !

८ मार्च १८९८

\* \* \*

६ : सतारीचे बोल

काळोखाची रजनी होती,  
हृदयीं भरल्या होत्या खंती;  
अंधारांतचि गढलें सारें  
लक्ष्य न लक्षी वरचे तारे;  
विमनस्कपणें स्वपदें उचलित,  
रस्त्यांतुनि मी होतों हिंडत,  
एका खिडकींतुनि सूर तदा  
पडले-दिड दा, दिड दा, दिड दा !

जड हृदयीं जग जड हैं याचा;  
 प्रत्यय होतां प्रगटत साचा;  
 जड तें खोटें हैं मात्र कसें  
 तें न कळे; मज जडलेंच पिसें  
 काय करावें, कोठें जावें,  
 नुमजे मजला कीं विष खावें !  
 मग मज कैसे रुचतील वदा  
 ध्वनि ते—दिड दा, दिड दा, दिड दा !

सोंसाळ्याचें वादळ येतें,  
 तरि तें तेव्हां मज मानवतें;  
 भुतें भोंवतीं जरि आरडतीं  
 तरि तीं खचितचि मज आवडतीं;  
 कारण आंतिल विषण्ण वृत्ति  
 बाह्य भैरवीं धरिते प्रीति;  
 सहज कसे तिज करणार फिदा  
 स्व ते—दिड दा, दिड दा, दिड दा !

ऐकानि ते मज जो त्वेष चढे,  
 त्यासरशीं त्या गवाक्षाकडे  
 मूठ वळुनि मीं हात हिसकिला;  
 पुटपुटलोंही अपशब्दांला;  
 म्हटलें—“ आटप, आटप मूर्खा ?  
 सतार फोडुनि टाकिसी न कां ?  
 पिरापिर कसली खुशालचंदा,  
 कारिसी—दिड दा, दिड दा, दिड दा ? ”

सरलों पुढती चार पावलें;  
 तों मज न कळे काय जाहलें;  
 रुष्ट जरी मी सतारीवरी  
 गति मम वळली तरि माघारी;  
 ध्वनिजालीं त्या जणूं गुंतलों  
 असा स्ववशता विसरुनि बसलों—  
 एका ओढ्यावरी स्थिर तदा  
 ऐकत—दिड दा, दिड दा, दिड दा

तेथ कोंपरें अंकीं टेंकुनि  
 करांजलीला मस्तक देउनि  
 बसलों; इतुक्यामाजी करुणा—  
 रसपूर्ण गती माझ्या श्रवणां  
 आकर्षुनि धे; हृदय निवालें,  
 तन्मय झालें, द्रवलें; आलें—  
 लोचनांतुनी तोय कितिकदां  
 ऐकत असतां—दिड दा, दिड दा !

स्कन्धीं माझ्या हात ठेवुनी  
 आश्वासी मज गमलें कोणी,  
 म्हणे—“ खेद कां इतुका करिसी ?  
 जिवास कां वा असा त्राससी ?  
 धीर धरीं रे !—धीरा पोटीं  
 असती मोठीं फलें गोमटीं !  
 ऐक, मनींच्या हरितील गदा  
 ध्वनि हे—दिड दा, दिड दा, दिड दा !”

आशाप्रेरक निवृं लागले  
 सूर तधीं मीं डोळे पुशिले;  
 वरती मग मीं नजर फिरविली,  
 नक्षत्रें तों अगणित दिसलीं;  
 अस्तित्वाची त्यांच्या नव्हती  
 हा वेळवरी दादच मज ती !  
 “ तम अल्प-द्युति बहु ” या शब्दां  
 वदती ख ते-दिड दा, दिड दा !

वाद्यांतुनि त्या निघती नंतर  
 उदात्तेचे पोषक सुस्वर;  
 तों मज गमलें विभूति माझी  
 स्फुरत पसरली विश्वामाजी;  
 दिक्कालांसहि अतीत झालों;  
 उगमीं विलयीं अनन्त उरलों;  
 विसरुनि गेलों अखिलां भेदां  
 ऐकत असतां दिड दा, दिड दा !

प्रेमरसाचे गोड बोल ते  
 वाद्य लागतां बोलायातें,  
 भुललों देखुनि सकलहि सुन्दर;  
 सुरांगना तों नाचति भूवर;  
 स्वर्ग धरेला-चुंबायाला  
 खालीं लवला-मजला गमला  
 अशा वितरिती अत्यानंदा  
 ध्वनि ते-दिड दा, दिड दा, दिड दा !



शान्त वाजली, गती शेवटीं  
शान्त धरित्री, शान्त निशा ती,  
शान्तच वारे, शान्तच तारे,  
शान्तच हृदयीं झालें सारें !

असा सुखें मी सदना आलों,  
शान्तींत अहा ! झोंपीं गेलों,  
बोल बोललों परी कितिकदां  
स्वप्नीं—दिड दा, दिड दा, दिड हा !

२० मार्च १९००

\* \* \*

### ७ : फुलपांखरूं

जेथें हिरवळ फार विलसते,  
लताद्रुमांची शोभा दिसते,  
तेथें फुलपांखरूं पहा हें—  
सुंदर बागडतें !

कलिकांवरुनी, पुष्पांवरुनी,  
गन्धयुक्त अवकाशामधुनी,  
पुष्पपरागा सेवित हिंडे—  
मोदभरें करुनी !

तरल कल्पना जशी कवीची,  
सुन्दर विषयांवरुनी साची  
भ्रमण करी, गति तशीच वाटे—  
फूलपांखराची !

वा मुग्धेची जैशी वृत्ति  
पतिसहवासस्वप्नावरती  
विचरे फुलपांखराची तशी—

हालचालही ती !

निर्वेधपणें इकडे तिकडे  
वनश्रींतुनी अहा ! वागडे;  
त्याचा हेवा हृदयीं उपजुनि

मन होई वेडें !

तिमिरीं आम्हीं नित्य रखडणें,  
विवंचनांतचि जिणें कंठणें,  
पुष्पपतंगस्थिति ही कोठुनि—

आम्हांला मिळणें !

असे यास का चिन्ता कांहीं ?  
यास ' उद्यां ' चा विचार नाही,  
अकालींच जो आम्हां न्याया—

मृत्युमुखीं पाही !

वहु सौख्याची कुसुमित सृष्टि,  
तींत वसे हें, न कधीं कष्टी,  
ग्रीष्माचें खर रूप विलोकी—

नच याची दृष्टि !

' सर्व विनाशी असती प्राणी,'  
ही मज खोटी वाटे वाणी;  
फूलपांखरुं—मरण पाहिलें—

आहे का कोणी ?

जें रम्य तें बघुनियां मज वेड लागे;  
गाणें मनांत मग होय सर्वेचि जागें;  
गातों म्हणून कवनीं फुलपांखरातें,  
व्हायास सौख्य मम खिन्न अशा मनातें.

\* \* \*

८ : आम्ही कोण ?

आम्ही कोण म्हणूनि काय पुससी ?—आम्ही असूं लाडके—

देवाचे, दिधलें असे जग तयें आम्हांस खेळावया  
विश्वीं या प्रतिभावलें विचरतों चोहींकडे लीलया,  
दिक्कालांतुनि आरपार अमुची दृष्टी पहाया शके !

सारेही वडिवार येथिल पहा ! आम्हांपुढें ते फिके;  
पाणिस्पर्शच आमुचा शक्तसे वस्तूप्रती द्यावया—  
सौंदर्यातिशया, अशी वसतसे जादू करांमाजि या;  
फोलें पांखाडितां तुम्ही, निवडतों तें सत्त्व आम्ही निकें ।

शून्यामाजि वसाहती वसाविल्या कोणीं सुरांच्या बरें ?  
पृथ्वीला सुरलोकसाम्य झटती आणावया कोण ते ?  
ते आम्हीच सुधा कृतींमधुनिया ज्यांच्या सदा पाझरे;  
ते आम्हीच शरण्य मंगल तुम्हां ज्यांपासुनी लाभतें !

आम्हांला वगळा-गतप्रभ झणीं होतील तारांगणें;  
आम्हांला वगळा-विकेल कवडीमोलावरी हें जिणें !

फैजपूर, २९ नोव्हेंबर १९०१

\* \* \*

# माधवानुज

( काशीनाथ हरि मोडक )

## १ : बर्न्स कवि

वर्षे शंभर जाहलीं कविवरा ! तूतें मरोनी पुरीं  
देई त्वत्कविता अजूनि हृदया आनंद माझ्या तरी;  
कोठें देश तुझा जलापलिकडे भारी दुरी येथुनी  
आर्यावर्त कुठें, परंतु उपजे वात्सल्य माझ्या मनीं.

दोघे जन्म न पावलों, न वसलों एक्या कुळीं वा स्थळीं,  
नाहीं भेट, तरी परस्पर मनें वात्सल्य तें आकळीं;  
आहे प्रेम कसें कुठें वसतसे तज्जन्म कोठें असे  
नाहीं आजवरी कधीं उकलिलें हें गूढ कोणीं कसें !

वस्तू दोन परस्परां सतत ज्या तत्त्वामुळें ओढिती  
तत्त्वे ल्याच रिघे तुझ्या कविवरा ! काव्यांत माझी मती;  
जैसा सद्रस पाझरे उकलितां द्राक्षाफळातें करे  
वाहे प्रेम तसें तुझें उकलितां सत्काव्य म्यां आतुरें.

प्रेमानें धरुनी करांत अपुल्या शेतामधीं नांगर  
लीलेनें जणुं गाइलीं बहु तुवां काव्यें सदा सुंदर,  
साधीं नम्र खरीं तुला यश परी त्याहीं दिलें भूवरी  
जाईचीं कुसुमें वनीं विकसलीं कां वास नोहे तरी ?

शेता नांगरितां हळूच निघतां उंदीर मार्तीतुनी  
केलें प्रेमळ काव्य त्यावर तुवां त्यातें झणीं पाहुनी;

साधा मूषक पावला अमरता संगें तुझ्या तो परी  
होतां सज्जनसंग नीच जनही मोठेपणातें वरी

पद्यें पर्णकुटींत राहुनि तुवां आजन्म जीं गाइलीं  
लीलेनें, असती अहा मज गमे दिव्यत्व तीं पावलीं;  
त्या पद्यांत दिसे तुझी सुरुचिरा मातें सदा आकृति  
वर्षे शंभर लोटलीं तुज जरी सोडोनि या भूप्रति

जेथें निर्झर वाहती, विकसती नाना लता सुंदर,  
वायू शीतल खेळती, द्विजतती आलापिती सुस्वर,  
ऐशा शांत निसर्गरम्य विषयीं वासा करूनी सदा  
काव्यें गाउनि धन्य भूमि अपुली केली तुवां जन्मदा.

साधें प्रेमळ काव्य वाचित तुझें स्वच्छंद होतों घरीं  
कांहीं सेवुनि रम्य पद्यकुसुमें आनंदलों अंतरीं,  
झाला सौख्यद पूज्य भाव हृदयीं उत्पन्न माझ्या अती  
केलें नम्रपणें तया प्रकट मीं शार्दूलविक्रीडितीं.

१८९६

\* \* \*

२ : दगड फोडतांना

पटकन् दगडा फुट् फुट् फूट  
किती कुट्टं मी तुज कुट् कूट् ॥ ध्रु० ॥

ही हातोडी हातीं धरुनी  
माझे सांधे गेले गळुनी  
एकसारखी घर्षण पडुनी  
गेले तळवे हे सुजुनी.



शक्ति न आतां अंगीं उरली  
गात्रें सगळीं विकल जहालीं  
तुज येऊं दे आतां करुणा  
अन्नदायका जड पाषाणा !

खडिचीं अठरा जधीं घमेलीं  
फोडिन तेव्हां मिळणें चवलीं  
पोटापायीं दीन दशा ही  
हाय ! कपाळीं आली पाही.

हा दुर्दैवा दगड फुटेना  
फोडाया तो हात उठेना  
हे अश्रूनो, वरती पडुनी  
टाका दगडा या मृदु करुनी.

अश्रु तरी ते पडतिल कोठुनि !  
गालुनि गालुनि गेले सरुनी !  
हाय कपाळा काय करूं मी !  
फोडूं कैसा दगड अहा मी !

प्रिय हस्तांनो, आतां अंतीं  
करित्ये तुम्हां एक विनंति  
स्वीकारा हो काठिण्याला  
या दगडाशीं झुजायाला !

बेलापूर, १२ जानेवारी १८९७

### ३ : कृष्णाकोयनांचा संगम

सखे गे, सुरेख संगम किती, कृष्णा मिळली कोयनेप्रति

किती विशाल तट हे अहा !

प्रिय सखे उभी तूं रहा  
क्षण येथिल शोभा पहा  
सखे गे०

वहु चकाकते यावरी  
ही सुरेख सिकता, परी  
जाय गळुनि धरितां करीं  
सखे गे०

जगिं असे सुखाचे क्षण  
नर झटे धराया पण  
जाति तयास ते फसवुन  
सखे गे०

झष जलीं उड्या मारिती  
भय न या सुखी हे किती !  
भवजलीं रमूं या रिती  
सखे गे०

वध दोधिंचि मैत्री किती  
एकमेकिस आलिंगिती  
दोन असून एकाचि होती  
सखे गे०

जर अशींच अपुलीं मनें  
 एक होतिल गे प्रीतिनें  
 मग सुखास कुठुनी उणें  
 सखे गे०

स्थळ पवित्र हें गे जगीं  
 जन बघेल जो लोचनीं  
 अघ हरेल त्याचें झणीं  
 सखे गे०

★ ★ ★

## ४ : दीपविसर्जन

करीं आरती घेउनी आर्यवाला  
 त्वरें पातल्या नर्मदेच्या तटाला;  
 करूनी तयांनीं सरिपूजनाला  
 प्रवाहीं दिली सोडुनी दीपमाला

अहा काय शोभा वढूं त्या क्षणाची  
 तृषा शांत झाली मदीयेक्षणाची;  
 तदा अस्तगामी जरी अंशुमाली  
 मना वाटलें यामिनी काय झाली.

सरिपात्र तें स्वच्छ तैसें विशाल  
 तदा भासलें कीं दुजें अंतराल;  
 तती त्यावरी शोभली दीपिकांची  
 उदेली जणों पंक्ति कीं तारकांची.

जशी अंतरिक्षीं फिरे चंद्रकोर  
प्रवाहीं करी रम्य नौकाविहार;  
नभीं स्वैर संचारती मेघखंड  
जलीं खेळती वीचि तैशा उदंड.

अशी दिव्य शोभा पहातां पहातां  
मनीं शांत झालों लया जाय चिंता;  
झणीं सूचली कल्पना एक चित्ता  
असे सर्व सृष्टीस जी मूलभूता.

दिले सोडुनी दीप जें वालिकांनीं  
दिला सारिखा वेग सर्वां तयांनीं;  
तयांची स्थिती तत्क्षणीं भिन्न झाली  
वरी दृश्य कोणी कुणी जाय खालीं.

कुणी गुंतुनी राहिले भोवण्यांत  
जलौघासर्वें जाय कोणी वहात;  
तयांतील कांहीं तटा अन्य गेले  
पुढें जाउनी अल्प मार्गेंचि आले.

जसे दीप तैसे असंख्यात जीव  
प्रभू निर्मितो थोर ज्याचा प्रभाव;  
तया सोडुनी देत कालप्रवाहीं  
वहाती तदोघासर्वें सर्व देही.

कुणी रंक होई कुणी होय राजा  
दुजा देखणा हो तिजा हीनतेजा;  
कुणी मूर्ख होई कुणी हो शहाणा  
कुणी धैर्यशाली तसा भ्याड जाणा.

तसें कां करावें ? असें मी करीन  
 वृथा, वलगना मानवांच्या अजाण  
 स्थितीचा असे किंकर प्राणिमात्र  
 स्थिती त्या करी पात्र किंवा अपात्र.

जरी राहिलें नर्मदातीर दूर  
 जरी आज वाला न दृष्टीसमोर;  
 स्मरोनी तरी दीपसर्गप्रसंग  
 झणीं हर्षयोगें भरे अंतरंग

\* \* \*

### ५ : स्मशानगीत

या क्रूर माझिया हातीं  
 लोटितों तुझ्यावर माती;  
 दगडाची करुनी छाती  
 शिशुवरा !

ये चंद्र नभीं उदयातें  
 स्पर्शितसे तुझिया तनुतें;  
 परि शक्त न उठवूं तूतें  
 प्रियकरा !

हां रम्य वाहतो वारा  
 बहु हलवी तव कचभारा;  
 परि उठवी तव न शरीरा  
 प्रियकरा !



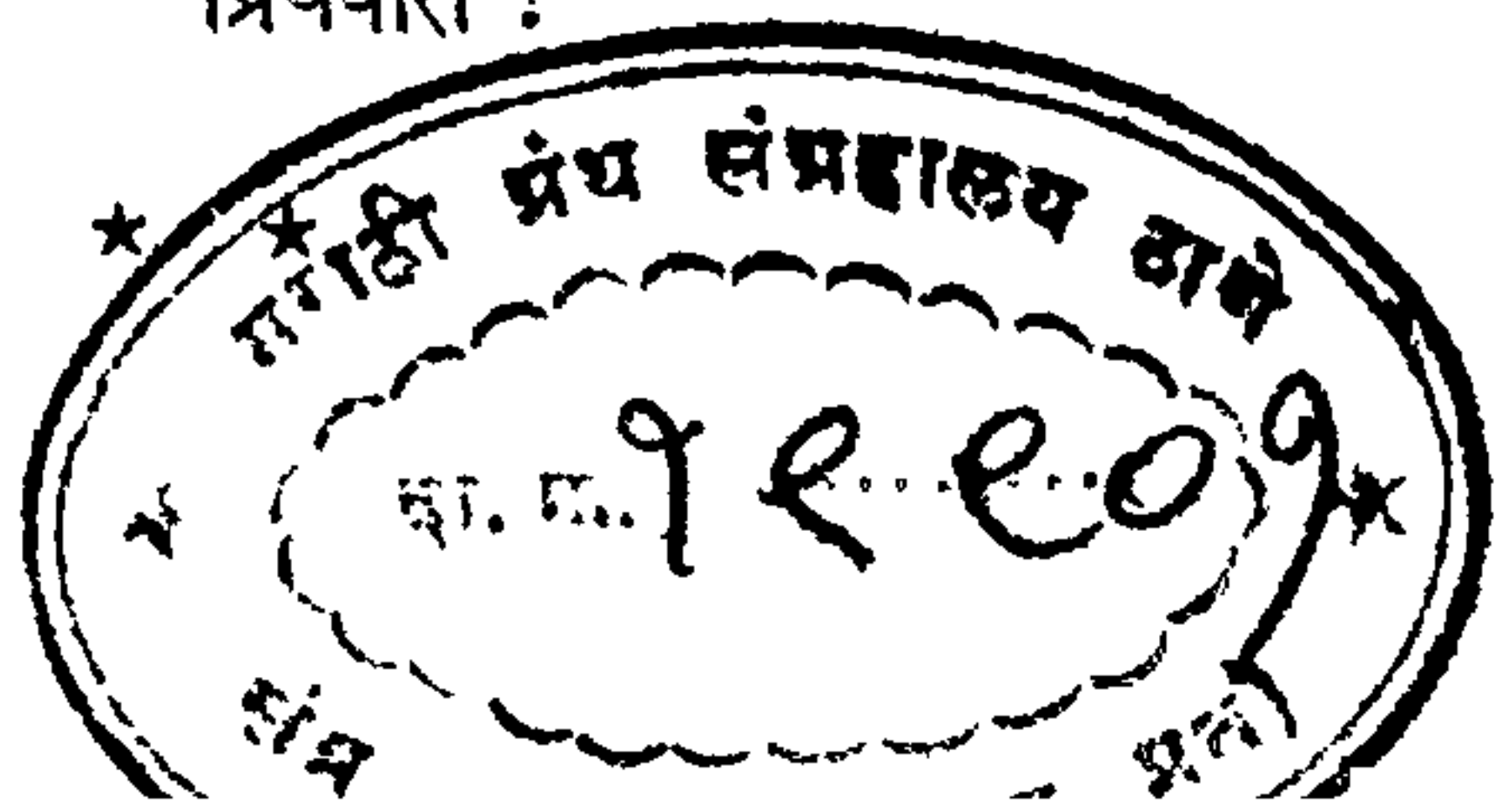
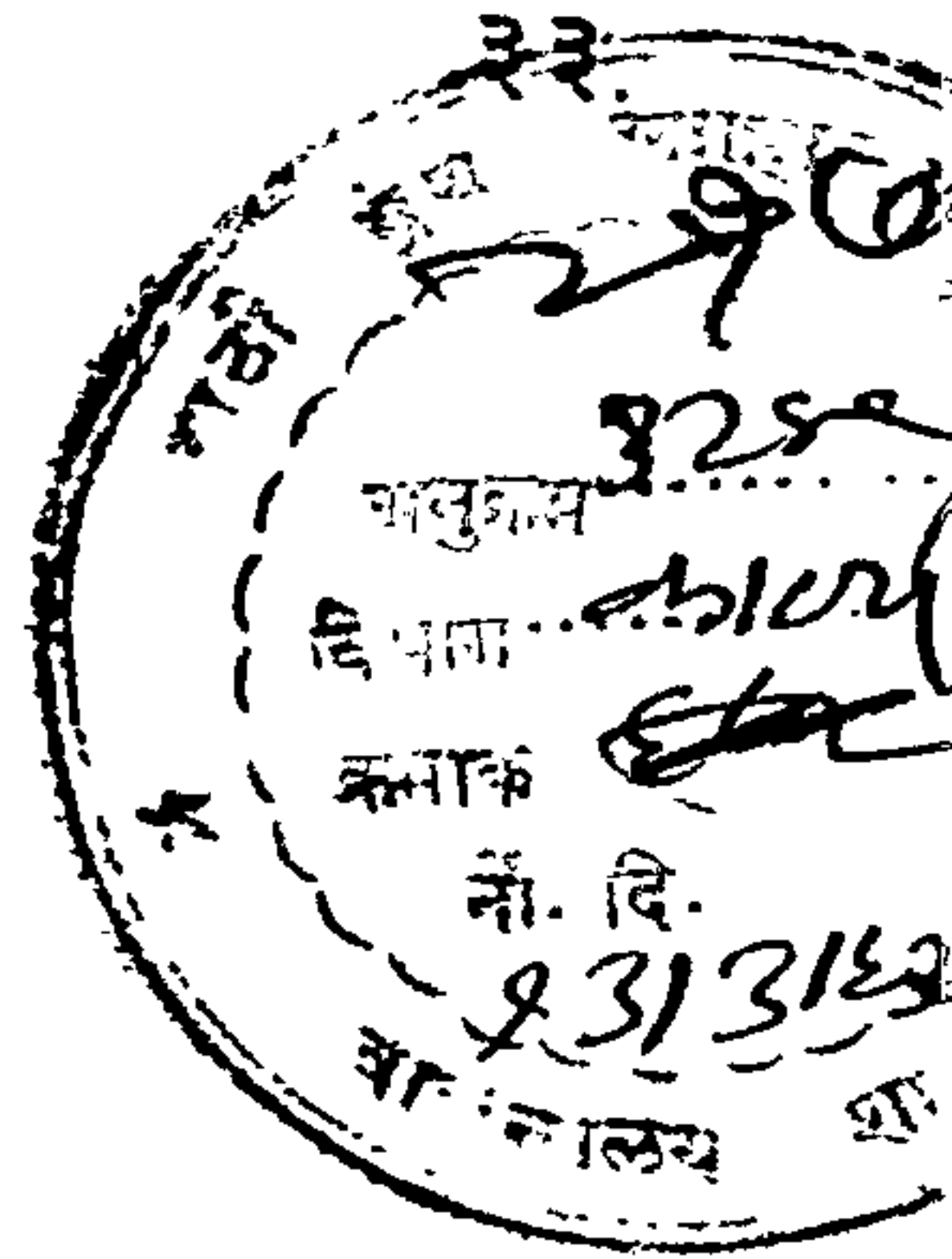
मी येथ गातसें गाना  
काढुनिया भेसुर ताना;  
परि शके न घालूं प्राणा  
प्रियकरा !

लय होतां चैतन्याचा  
या चंद्र-मरुद्गानांचा;  
उपयोग न होई साचा  
प्रियकरा !

हे अश्र टपाटप खालीं  
गळतातं शुष्क तव गालीं;  
यांहीं तुज न्हाऊं घालीं  
शिशुवरा !

कर जो जो बा अंगाई  
चिरकालिक निद्रा घेई;  
भय तुजला उरलें नाहीं  
प्रियकरा !

जातों मी अपुल्या ठायां  
यम येइल तेव्हां न्याया;  
येईन तुला भेटाया  
प्रियकरा !



## ६ : गीतांजलि

हैं सान सुमन तूं सत्वर घेई खुडुनी  
जाईल थांबतां मातीमध्ये पडुनी;

जरि मिळे न याते स्थान तुझ्या सुमहारीं  
निजकरें दुखवुनी देवा या स्वीकारीं.

दिन सरुनी न कळत होइल संध्याकाळ  
जाईल निघोनी तव पूजेचा वेळ;

सुमनोहर रंग न याचा ! हैं खरें  
वास ये यास बेताचा ! हैं खरें  
तरि यास मान सेवेचा ! दे त्वरें

जों काल न गेला घेई त्यातें खुडुनी  
जाईल थांबतां कोमेजुनि हैं पडुनी.

\* \* \*

# चंद्रशेखर

( चंद्रशेखर शिवराम गोखे )

## १ : कविवर्य लेंभे यांची कविता

ही येतांच उठोनि कौतुक जणों नेत्रांतुनी पाहतें,  
धावोनी अवधान ये लगवगां, कानीं उभें राहतें;  
देण्याला बहुमान मान लवते, उल्हास ये मानसा,  
वाटे आज शरत्-प्रभात नटुनी ही येतसे राजसा.

हंसाचें गतिचित्र दाविति,—किती नामी पदन्यास हे !  
भाषेची सरणी रसज्ञ कविला साधे न अन्यास हे.  
ऐशीं रम्य विशेषणें विलसतां स्नेहाळ संबोधनें,  
व्हाया सन्मुख चित्त चुंबकमणी ते कासया शोधणें ?

ह्या पंक्ती मजला हळूच म्हणती अभ्यन्तरीं, वाहुनी—  
वायूच्या झुळुकी सुखावह तुम्हां होतात का याहुनी ?  
आम्हीही मृदु आणि कोमल असूं, मंजूळसें गातसूं,  
आम्हां सोडुनि त्यांस वानिति कवी येतें तयांचें हंसूं.

सारी सुंदर, सौम्य गोड रचना देते प्रसादासवें  
प्रेमानंद मनीं भरोनि, नयनीं ही वाहवी आंसवें;  
ना गंधर्वपुरांत उंच तळपे होवोनि सौदामिनी,  
सत्ता सदृहदयावरी करितसे, ही भूवरी भामिनी—

—देवी वागतसे जणों, दिसतसे गंभीर राणी जशी,  
हीचें दर्शन वाचकांस म्हणजे आहे शिराणी जशी.

ओजानें करुण-प्रधानरस ही जीवंतसा दाखवी,  
निर्माता जन जो हिचा निपुण तो आहे कवी हो कवी !

माझा मित्र असो नसो मम तथा सप्रेम हीं वंदनें,  
तो दीर्घायु असो, सुखांत विलसो सन्नदिनीनंदनें;  
अर्वाचीन कवींत मान मिळवो अग्रेसराचा सदा,  
त्याला नित्य असो प्रसन्न कविता कीर्ती तशी संपदा.

सप्टेंबर १९१६

\* \* \*

## २ : रंगराव हर्षे

ती तू देवी ! प्रगटुनि आतां ये हृदयरंजनातें,  
सांगतसे त्या घेउनि संगें रंगेल परिजनातें :—

बहु गमती तो विनोद, तैसा त्याचा ऋणानुबंधी,  
ऐन उमेदीमाधिल हंशाही याचा खुशालचंदी;

वक्रोक्तीसह ती व्याजोक्ती, व्याजस्तुती असावी,  
श्लेष अगोदर कीं हर्षाला अजब खुमारी यावी;

भुरळी, थापा, आण बरोबर परोपरीच्या कंड्या,  
त्यांचा गोंधळ हंसतां हंसतां वळविल कीं मुरकुंड्या;

मुरके, लटका, छटा मजेची देतिल आनंदाला,  
स्मितेहि यावीं, तीं गालांवरि उठविति तरंगमाला;

त्या मालेनें उतारवय हें छपलें जाइल खास,  
चुकेल तेणें रंगेलांतुनि होणारा उपहास;

जन चिंतातुर सुरकुतलेले यांच्या आण कुचाळ्या,  
 ज्यांच्या साधक-वाधक पक्षीं कडकड पडतिल टाळ्या;  
 स्वच्छंदानें अग्रपदांवरि कलथ्या खातच येई,  
 हास्य-रसाला चुटकीसरशी भरती आणुनि देई;  
 गिरीवरोनी सरिता येतां ज्या स्वैरतेस दावी,  
 प्रमुखत्वे ती आण, तिच्यांतिल गोडी काय वदावी !

एक मनोरथ विशेष कथितों तोहि तुवां पुरवावा,  
 निज परिचारकगणांत सेवक हा रंगराव ध्यावा;  
 मग बनुनी त्या स्वतंत्रतेचा साथी तवानुगामी,  
 स्तुत्य अशा मी यथेष्ट मौजा करोनि राहिन नामी :—  
 शरदागमनीं जे मेघांचे बहुरंग पेहराव,  
 स्मरण त्यांचें घडावयाचें दिसतांच रंगराव.

केशांचा तुळतुळित सुगंधी शिरीं किरीट फिरंगी,  
 केव्हां फेटा, पगडी, टोपी, रुमाल कल्पित रंगी;  
 रंगकुतूहल, बांधायाची ऐट सुरेख रुमाल  
 बघुनि नटानें खुलुनि म्हणावें केलीस तूं कमाल !  
 झगा मोंगली, कधिं अंगरखा लांब मराठेशाई,  
 पायघोळसा दाविल केव्हां तो थाट पेशवाई;  
 वीरश्रीचा पुत्र कनोजा, रजपूत साम्यतेचा,  
 दिसेल केव्हां निवळ पारसी, सज्जन विलायतेचा.  
 धोतर अथवा जामा किंवा सुरवार वा विजार,  
 उपानहें तीं असावयाचीं जो वेश तदनुसार.

गंध उभे तों केव्हां अडवें कदा वदामी घाटी !  
सारीं राष्ट्रें टकमक बघतीं अशी मिशांची धाटी !

“ ह्या हर्ष्याचें राष्ट्र कोणतें हेंच कळे न कुणाला ! ”  
ध्वनी जनीं हा निघतां मानिन मी वन्य आपणांला.

वहु राष्ट्रांचा घडोनि येणें एकांतुनि संहार,  
‘ एकराष्ट्रता ’ यांतिल मख्खी हीच खुबी हें सार !

वेषांतिल हें वैचित्र्याचें आहे प्रमेय साधें,  
त्यानें ममता तैशी प्रियता भिन्न समाजीं साधें.

दिसण्यामध्ये विचित्र चित्रें एकाच साखरेचीं,  
तरि सर्वांतुनि साखर, गोडी, सामान्य हें खरेंची.

ज्या रंगीं, ज्या रुचींत, किंवा ज्या घाटांत भरावें,  
त्यासम व्हावें, आदरिलें हें जलशील रंगरावें.

धार्मिक किंवा सामाजिक वा घटना स्वराजकीय  
असो, तियेला हर्षे म्हणजे प्यारा ! जसा स्वकीय.

नगरामध्ये कुणांत होवो कसलाहि सुप्रसंग,  
रंगराव हा त्यांत नेमका; तो आला कीं रंग !

भिन्न समाजीं प्रिय व्हायाला वेषाहुनी त्यानें  
विशेष साधन योजियलें, जें करितें कार्य जयानें.

मवाळ, त्याचें मित विनयाचें, भाषण सुमधुर, साचें,  
नर्म विनोदहि भासति हृदयीं विसतंतु सारसाचे.

नहि केवळ तो प्रिय नगरांतचि, परि त्याच्या समंतीं  
ग्रामस्थांसहि पसंत; त्याची करितात तेहि खंती.



ह्या रीतीनें नित्य निराळा पोषाक तो करोनी,  
भिन्न दिशेला जनांस भेटुनि, येवोनियां फिरोनी,  
रात्रौ अमुचें रसाल भोजन गोष्टींत व्हावयाचें,  
आणि टांगिला बुलबुल तेथें आम्ही निजावयाचे.

असेल जेव्हां ललितकलेचें रंगावतरण नामी,  
रंगराव हे जातिल तेव्हां स्वानंदाच्या धामीं.

अथवा देवी ! ठेवियलेले अलगत अचूक तेथें  
कर्णमधुर ती सारंगीची ' कूं कूं ' जेथुनि येते.

मंजीरांची छुम् छुम सिन् सिन बारीक मंजरीची,  
शाहीराला जणुं लय सांगे प्रति तार तंबुरीची;

अस्तानी वर सारुनि कोणी ग्यानु झुलोनि राहे,  
कड्यावरी निज करलाघव तें सभ्यांस दाविताहे;

रसिकाशिरोमणि कवि होनाजी, ते सगन, रामजोशी,  
होतिल यांचीं मधुमय कवनें कवणांस तीं नकोशीं ?

वसंतवायूसमान लहरी येति तयांच्या ताज्या,  
ब्रह्मकपाटासमान परि तो बंद असे दरवाजा !

रसलुब्धांची मोहाळापरि बाहेर थोप गर्दी,  
एकाचीही डाळ शिजेना, आंत शिरेना वर्दी;

मग सरसावुनि अस्मादिक हे ठोठावितील दार,  
' सरदोर ! ' अशा ललकारीचा करितील वाक्प्रहार.

' कोण ? ' म्हणोनी वाघोबाची डरकी येतां ' हर्षे ' .  
चुटकीसरसा फटोमधोनी आनंद आंत वर्षे !

याँवें !—याँवें—रंग हय् ! अशा स्वागत घोषामार्जीं  
 प्रभावळीमधिं नटीसमोरचि होइल जागा माझी.  
 ढवळ्या दिवसां दिसावयाच्या ज्या मूर्ति भंगलेल्या  
 गुलालगोटे फुट्टुनि इथें त्या असतल रंगलेल्या.  
 कोणी गंगाजमनी कोणी पिंगट अशा मिशांचे,  
 कुणि कल्पानें कल्पित तरणे, बहुधा गरम खिशांचे;  
 हे मुरलेले गोड मुरव्वे, गुलकंद रापलेले,  
 अरविंदांतिल मिलिंद कीं हे अगदीं समरसलेले ?  
 ‘ सरदोर ! ’ अशी हांक विनोदें दिली असेल जयाला,  
 असोनि परिचित न यावयाचा तो ओळखावयाला.  
 असेल तन्मुख मित्रजनांनीं गोंजारिलें गुलालें,  
 बलभीमामधिं दिसेल त्याचें रूपान्तरचि जहालें !  
 आणिल शिष्टागमन हंशानें सुविचित्र रूप जीतें,  
 त्या ‘ गमती ’चीं चातू होतिल मग शेलकींच गीतें.  
 वीणा, वेणू, सारंगीच्या मंजूळ संगमानें,  
 आणि तयाशीं कुशल नटीच्या लयशील सुस्वरानें,  
 अभिनयरंजित रसवंतीच्या रम्य तरंगांसंगें  
 झुलुनि रहातिल लोलुप जन ते रंगोनि अंतरंगें.  
 मग अधिदेवी-कृपाकटाक्षें दौलत वाढुनि काहीं,  
 रंग उडाल्यावरती कोणी ह्या गांवचाहि नाहीं.  
 प्रभात समयीं दिसेल जो तो स्वगृहों सालस जैसा,  
 रंगरावही बंगल्यामध्ये पुन्हां निखालस तैसा !

### ३ : गंगाद्वारीं भजन

उलटुनि गेली मध्य-निशाही जीवन-कलह जर्गीं शमला,  
जन निद्रावश गमतो सोऽहं-मंत्रें भारियलाच मला;  
पान न हाले, शब्द निमाले, स्वानंदीं जग मग्न दिसे,  
तव भक्तीची ' भंग ' पिउनि मज गंगे ! भरलें स्फूर्ति-पिसें.

भव-भट्टीमधिं तावुनि तावुनि विजनजलीं जें निववियलें,  
मंत्रघनानें पिटुनि, ओढिलें विचार-जंत्रातोनि बलें,  
जें मन नामें कांचन त्याची सतार ही ख काय करी,—  
“ जय् संजीवनि जननि पयोदे श्रीगोदे ! भवताप हरीं. ”

येथ शिवानें जटा फटाफट आपटुनी तुज वाहविली,  
गोवधपापें अनुतापाकुल गौतमतनु अवगाहविली,  
धन्य महात्मा ! आपण तरला, तारियलें जग निरंतरीं.  
जय् संजीवनि जननि पयोदे श्रीगोदे ! भवताप हरीं.

गिरिशिखराहुनि जगदाधारा धारा ही तव अवतरते  
छुम छुम झुमझुम जलकलरव हें नादब्रह्मच कीं नटतें ?  
राहिन हे तव जलधारारव अवधाराया या शिखरीं.  
जय् संजीवनि जननि पयोदे श्रीगोदे ! भवताप हरीं.

विमल विमल ! हें कसें तुझें जल, गंगे ! गंगाजलचि जसें.  
सुंदर सुंदर ! वसुंधरेंतिल सुंदरतेचें सार दिसे.

किति सुखशीतल ! सत्संगासम आश्रिततनुमन गार करीं,  
भवजालांतहि बद्ध जनांच्या आणुनि देतें मोक्ष करीं.

मधुर मधुर गे ! अविकृत केवल दैवी प्रेमचि हें गळतें.  
वैतरणीच्या उलटचि याची संतत गति जरि चंचळ ते.

पावन पावन गंगे ! तुजसम तीर्थ-महात्म्य न भूमिवरी.  
पुष्कर राजा म्हणवुनि लोकीं पूज्य विधा इतुकाच तरी.

जगताच्या इतिहासांतिल हें सत्याचें संशोधन कीं  
कीं सृष्टींतिल पुराण तें हें ? स्मृतिचें हेंच निवेदन कीं ?  
कीं हा संगम षडागमांचा ? कीं निगमांचें सार खरें ?  
अनुपम ऐशा आत्मरसाचा हा अवताराचि कां न बरें ?

भूतांवरिचें तव वात्सल्यचि अमृतमिषें हें संभवलें,  
द्रवलें चंद्रकलामृत यांताचि शिवचरितामृत कालवलें;  
त्रिगुणित ऐसें हें परमामृत पाजुनि तृष्णा दूर करी.  
जय् संजीवनि जनानि पयोदे श्रीगोदे ! भवताप हरीं.

गिरिकंदरिं हा गंगाद्वारीं तव तीर्थाचा निधि जमला,  
सन्निध ह्याच्या येतां भासे झाला चंदनलेप मला;  
कर्पूरांजन ! नयन निवाले, सात्त्विक धारा अवतरती,  
ह्या तव ममता-सुधाकरें जणुं चंद्रमणी हे पाझरती.

थंडावुनि ह्या थंडाईनें हांवरि भवाची उपशमली,  
शुष्क सुखांची मृगतृष्णा ही राल-ज्वालेसम शमली;  
शांत मनाला प्रसन्नता ये गंगे ! या तव जलापरी,  
स्वानंदाच्या ठुमकाति त्यावरि मनोज्ञ मंजुलशा लहरी !

स्फाटिक-शिलेच्या मंचावरतीं कोमल किसलय-सुमशयनीं,  
भूरंभेच्या परिरंभामधिं, धवल वसंतांतिल रजनी  
अनुभविणाऱ्या अरे नरेंद्रा ! विगलित कां तूं हिरमुसला ?  
ही सुखशांती न हि विषयान्तीं असतो विरसाचि ठेवियला.

सकल मलांचें भंजन कीं हें ? विकल मनांचें रंजन कीं ?  
 विषयांधांचें अंजन कीं हें ? ज्ञानमधूच निरंजन कीं ?  
 कीं संजीवन वैराग्याचें, शांतरसामृत खरोखरी !  
 ह्याचा एकहि कण प्याल्यावरि चर्चा मम यम काय करी ?

हें मुक्तीचें केलिसरोवर, यांतुनि हो रममाण मना !  
 जगदात्म्याचें निर्मल बिंबचि तूं प्रतिबिंब सजें सुजना !  
 परम सुखाचा डोह शरीरा ! मार बुडी तूं स्नान करा.  
 जय् संजीवनि जननि पयोदे श्रीगोदे ! भवताप हरीं.

ध्यानहि जरि तव पावन करितें, स्नान तरी वद काय करी ?  
 स्नान, पान, गुणगानहि केलें, देशिल फल मग काय तरी !  
 अधिकाचें फल अधिकाचि म्हणती, पण तें माझ्या ठेव करीं.  
 जय् संजीवनि जननि पयोदे श्रीगोदे ! भवताप हरीं.

जन्मुनि तीरीं, पिउनि तुझें पय, न करिति तव गुणगौरव हा,  
 अधमपणास्तव चुक्रेल कां गे सांग मला तरि रौरव ? हा !  
 तव गुण गातां रमवुनि यमही झुलविन शब्दब्रह्म करीं,  
 जय् संजीवनि जननि पयोदे श्रीगोदे ! भवताप हरीं.

शब्दब्रह्मीं जो कवि कसला, त्याला रौरव मग कसला ?  
 नित्यानंदें पूर्ण विकसला, परं ब्रह्मपदिं तो वसला.  
 परंब्रह्मपदिं तुझ्या झय्यामधिं स्मरसला तो दुधापरी,  
 ' पुनरपि जननं पुनरपि मरणं ' यांची ओळख तो न धरी.



## ४ : कारंजें

हैं अवलोकनि कारंजें  
गा हृदया रसिका रंजें ॥ ध्रु० ॥

रविप्रकाशामाझारीं  
याचें तेजोमय वारी  
चमके, मुकेच गगनाचे  
ध्याया थैथै जणुं नाचे;  
पडुनि चंद्रिका यास करी  
धवल हिमाहुनि नवलपरी;  
विलसति किति ह्या जलधारा;  
शुद्ध रुप्याच्या जणुं तारा.

ह्या बिंदूंचे तों होती  
गोल अमोल विमल मोती.  
हंसोत अथवा जवाहिरे  
मी तों म्हणतो यांस हिरे !  
होतां जल पवनाकुल तें  
फूलचि जणुं डुलतें झुलतें.  
न दिसो तमांत तारांनीं  
उमगे मंजु तुषारांनीं  
सततोत्साहें, आनंदें,  
उडतें पडतें निज छंदें;  
पडुनाहि उंच उडायाला  
याला श्रम न कदा झाला.



सुदिन-दुर्दिनीं उल्हासें  
 हांसे सम सुंदर भासे;  
 खालीं वरती सतत गती,  
 गती विराम तथा मग ती.

शील करी जें तद्घटना,  
 ना तें शक्यचि आकलना;  
 शाश्वत अशाश्वती ज्याला,  
 तीच शाश्वती मग त्याला.

स्पृहावंत जरि निरंतरीं  
 तरीहि निस्पृह निरंतरीं  
 तमें तमोमय हें असतें,  
 तेजें तेजोमय दिसतें.

अभिनव, सतत, जरी लहरी,  
 उन्नत, चिंताजाल हरी;  
 गुणगुणुनी गुणगण हे तूं  
 तूंहि असें हो हा हेतू.

# विनायक

( विनायक जनार्दन करंदीकर )

## १ : हतभागिनी

तळहार्तीं टेकुनी ही स्वशिरातें वैसली !

धु०

मस्तकीं केश विखुरले,  
श्वास चालले, अश्रु लोटले,  
गळे जल गालीं—चित्तेनें पोळली !

वखें तीं अपुरीं जुनीं,  
तेथ कोठुनी, असात्रा मणी,  
दनिता ल्याली—दुःखानें कावली !

दारिद्र्य, घरीं जागतें,  
अन्न काय तें, दिसेना कुठें,  
वायुजलवाली—गगनाची साउली.

होती ती सिंहासनीं,  
भाग्यशालिनी, धनी विजायिनी,  
परी तिज खालीं—दुदैवें ओढिली.

एकाश्रुबिंदुकारणें,  
तियेच्या रणें, झुंजले मनें,  
असे सुत व्याली—जयकालीं माउली.

कारटीं करंटीं तिथें,  
निपजलीं भुतें ! मातृशोणितें—  
खतांला लाली—आणाया धावलीं !

कल्याण काय नेणती,  
निल्य भांडती, आपसांत तीं,  
परां वश झालीं—स्वत्वाला विसरलीं !

गेले दिन यावे कसे,  
वर्तनें असे, एकदां फसे—  
गाय जी गाळीं—चेपत ती चालली !

\* \* \*

## २ : विरही

वदवेना मला लागे हुरहुर जी तुजमुळें !

धु०

चालतो बोलतो घरीं  
हांसतो वरीं, अंतरीं परी  
अश्रु वेल्हाळे ! विरहानें तव गळे.

तव सहवासीं जे दिन  
वाटले क्षण, ते युगाहुन  
दीर्घतर झाले. नवल असें वर्तलें !

नाहींस रूपशालिनी  
परी गुणखनी, प्रेमरूपिणी  
गुणें प्रिय झालें—रूप तुझें सांवलें.

तव अकपट प्रेमळ हंसें  
अंतरीं ठसे, वोल गोडसे  
श्रुतीचीं पाळें, होउनियां बैसले.

तव हालचाल लाडकी  
 आठवुनि सखी, एकसारखी  
 जड क्षण झाले. कंठितसे प्रेमळे !  
 होईल कधीं दर्शन  
 दृढालिंगन, प्रेमचुंबन  
 चिंतनीं दोले-मन घेऊं लागलें.  
 अलि असतो तर बैसुनी  
 वायुवाहनीं, गात येउनी  
 तुला वनमाळे ! असतें मीं चुंबिलें.  
 परि दुबळी मानवकुडी  
 व्यर्थ बापडी, तियेची उडी  
 वेत केलेले, सर्व कुणा साधलें ?

\* \* \*

### ३ : सोंगटीचा खेळ

खेळ मांडिला जगन्नायकें जगत्पटाच्यावरी.  
 मानव नरदा, दिवसयामिनी फांसे धरिले करीं.  
 भिन्नत्वास्तव रंग चढविला हिरवा पिवळा वरी !  
 रंगाखालीं सान्या नरदा शुष्क लांकडे परी !  
 या भिन्नत्वीं भरली जादू-तिचें नांव संसृती.  
 भिन्नत्वबलें दिसे चालली जगताची राहटी.  
 हिरवीमार्गे पिवळी लागे लाल बैसली कटीं.  
 घरांत राहे पडून काळी; तिची खुंटली गती.

पडेल जैसा डाव त्यापरी पटीं सोंगटी फिरे  
अभिमानमदें गिलित चालली लाल घरेंच्या घरें

पिवळीचा बैसला तडाका, हिरवी पिकली मरे  
नशीव पुटकें म्हणून काळी मनीं विचारी झुरे !

मारील कुणी, मरेल कोणी, मागें, कोणी पुढें  
न्याय जगाचा जो चढतो, तो यथावकाशें पडे

परम पदाचा लाभ सुदुर्घट एकादीसच घडे  
पदाजवळ पोंचली सोंगटी, फांसा चुकतां बुडे.

तिच्या ललाटीं, पुनः फिरावीं पटीं घरें तींच तीं  
चर्वितचर्वण केल्यावेगळ तिला न दुसरी गती.

स्ववळें तरल्या दुसऱ्या नरदा तिज द्याया सद्गती  
चौऱ्याशींचा चुकला फेरा पुनः क्रमूं लागती.

स्वतां खेळतां खेळविणारा प्रभू जगाचा पती.  
निमित्त नरदा यदच्छाबळें खेळ मात्र खेळती;

परि म्हणती निर्जीव लांकडें ' माझी माझी ' कृती  
धन्यास भुलली, स्वतांस नुसत्या दोषांनीं लिपिती.

\* \* \*

## ४ : प्रोफेसर छत्र्यांचा केसरी

तुज वनराजा काय ग्रहदशा आली । परवशता प्राप्त जहाली  
तूं विपिनाचा सार्वभौम अधिकारी । मृगकुलें प्रजा तव सारी  
तव आज्ञाही वेदवाक्य कांतारीं । तूं राजा थोर विचारी  
गर्जना तुझी धैर्या कांपविणारी । चपलेची दृष्टि भरारी

मदभरें नाग जो नाचे  
 मस्तकीं चढून तयाचे  
 भाक्षिसी कवळ मोल्यांचे  
 ऐश्वर्य असें असे तुझे जयकालीं । परि आलें काय कपाळीं !  
 दुर्दैव तुझे पडलास कसा आतां । कपट्यांच्या निर्दय हातां  
 ते थाटानें मिरवितात; तव माथां । हाणिती तडातड लाथा  
 तूं दुबळ्यांच्या साहसी प्रतोदाघाता । भीसी श्वासा दृक्पाता

निःशंकपणें नरनारी  
 करितात तुझ्यावर स्वारी  
 ये अशी तुला लाचारी  
 तव कर्णाची निर्भय धरुनी पाळी । लवविती तुज मुलीबाळी !  
 स्थिति रुचे कशी तुज ही लाजिरवाणी । कोठें तव दडले पाणी ?  
 जीवंतपर्णी स्वत्वाची होतां हानी । प्रेतकळा पावे प्राणी  
 मृदुलता अशी धरितां लोण्यावाणी । खातील तुला ओठांनीं

समज हे मानवी कावे  
 कुरवाळित घेति चावे  
 मृगजलास या न फसावें  
 ही इष्ट नव्हे परवशतेंत बहाली । नाच रंग दीप्त महालीं !

\* \* \*

## ५ : गणेशपूजा

रोगें पीडित नगरें नसतीं योग्य वसायाला  
 म्हणुनि बांधिले पुण्याश्रम, निर्मला पर्णशाला.



गणरायाची मूर्ति मंगला स्थापूं त्या स्थानीं  
नेत्रावाटे खळखळ वाहे दुःखानें पाणी  
विघ्नहरातें प्रेमें न्हाणूं त्याच आंसवांनीं  
वाहूं पट जो कर बसल्यानें जीर्ण असे झाला.

अशा प्रसंगीं तिलक लाधणें महत्प्रयासाचें  
दिसो दिसेल सुनें त्यावेगळे भाळ गणेशाचें  
पुष्प एक वाहून टाकिलें आहे चांप्याचें  
दुसरें मिळवावयास जाऊं-करूं उद्यमाला.

कामांधकरीं पडती, रडती युवती दिनरात  
दीर्घ उसासे त्यांचे येथें धूप-तुल्य होत  
सर्वग्रासी दिसे पेटली परसत्ता-ज्योत  
तिनेंच ओवाळूं देवाला, करूं मंगलाला.

सार वस्तुंचा लोट सारखा परदेशीं जातां  
नैवेद्यास्तव कांहीं नुरलें, काय करूं आतां ?  
किती आळवूं, गाऊं, ध्याऊं तुम्हां दीननाथा  
राचिले, राचितों अपराधांचे शत पोटीं घाला.

\* \* \*

## ६ : चिमा

भाग्याचे समयीं मजा उडविली मत्संगतीनें जिनें;  
मातें जी न विसंबिली भटकतां पोटाथ रानें वनें;  
ऐश्वर्यां व्यसनीं अशी मजसत्रें जी नांदली सारखी,  
हा ! हा ! हारवली चिमा प्रियतमा माझी जिवाची सखी !

खालीं मान करून संतत उभी लज्जावती जी असे,  
 रागेजे न कधीं; सदा मजकडे पाहून गालीं हंसे !  
 नाहीं सोडुन कोपरा सरकली, माझे सदा आयकी,  
 हा ! हा ! हारवली चिमा प्रियतमा माझी जिवाची सखी !

नाहीं माहित डामडौल अगदीं साधीसुधी वागली,  
 नेसायास दिलें जुनें चिर तरी नाहीं असंतोषली;  
 ल्याली भूषण एकही न, रिझली सेवून पानें सुकीं,  
 हा ! हा ! हारवली चिमा प्रियतमा माझी जिवाची सखी !

नाहीं चारजणांसमक्ष तिजला मीं चुंबितां लाजली,  
 हूं कीं चूं न करी उभी तिज जरी मीं विस्तवें भाजली;  
 ऐशी भक्ति असे तिची मजवरी ठेवी मला जी सुखी,  
 हा ! हा ! हारवली चिमा प्रियतमा माझी जिवाची सखी !

\* \* \*

# बी

( नारायण मुरलीधर गुप्ते )

## १ : दीपज्योतीस—

सोन्याची तनु जाळितेस अपुली पाषाणमूर्तीपुढें,  
मुग्धे ! तें वद कोण पुण्य तुझिया हातास तेणें चढे ?  
सारें विश्व बुढे तमांत तिकडे भांवावुनी बापुडें,  
गे ! निष्कंप, तुला परंतु इकडे, ही ध्यानमुद्रा जडे.

ध्याया कोंडुनि मंदिरांत जगदुघानीं न तूं जन्मली,  
वाया नासुनि जावया नुगवली बागेंत चाफेकळी !  
व्हाव्या वर्धित वस्तु ज्यांत वसतें सौंदर्य अत्युत्कट,  
इच्छा केवळ कीं ! न वस्तुसह तें पावो जर्गीं शेवट.

प्रत्यंगीं अवध्या प्रकर्षभर ये ज्यांच्या पुरा मोडुन  
त्यांच्या पूर्णपणास सुस्थिरपणा येथें न अर्धक्षण;  
पूर्वोत्थापनकाल तोच पतनप्रारंभही होतसे,  
ऐसा निष्ठुर कायदा सकल या सृष्टीस शासीतसे !

येथें नूतनजीर्ण, रूप अथवा विद्रूप, नीचोत्तम,  
न्यायान्याय, अनीतिनीति, विषयीं संभोग का संयम;  
जातीं हीं भरडोनि एक घरटीं, एकत्र आक्रंदत,  
आशा भीतिवशा म्हणूनिच मृषा स्वर्ग स्रजी शाश्वत.

हें वैषम्य असह्य ' होतसमयीं ' स्थापावया साम्यता,  
तेजोवंत यदा यदा ल्यजुनि ती प्रेतोपमा स्तब्धता;

अन्यायप्रतिकारकार्य करिती नाना प्रकारान्तरें,  
दारीं बंड ! घरांत बंड ! अवघें ब्रह्मांड वंडें भरे !

हैं लोकोत्तर रूप तेज तुजला आहे निसर्गें दिलें,  
कीं तूं अन्य तशींच निर्मुनि जगा द्यावीस कांहीं फलें;  
दानें दे न कुणा निसर्ग ! धन तो व्याजें तुम्हां देतसे,  
तें त्याचें ऋण टाक फेडुनि गडे ! राजीखुशीनें कसें !

होतां वेल रसप्रसन्न फुटुनी येतो फुलोरा तिला,  
ती आत्मप्रतिमांस निर्मुनि हसे संहारकालानला;  
' वाढा आणि जगा ' निसर्ग म्हणतो सृष्टीस भूतात्मिका,  
डोळ्यांनीं उघड्या पहात असतां होशी गुन्हेगार कां ?

\* \* \*

## २ : चांफा

चांफा बोलेना, चांफा चालेना,  
चांफा खंत करी कांहीं केल्या फुलेना.

ध्रु०

गेलें ' अंब्याच्या ' बनीं  
म्हटलीं मैनांसर्वे गाणीं  
आम्हीं गळ्यांत गळे मिळवुन.

गेलें केतकीच्या बनीं  
गंध दर्बळला बनीं  
नागासर्वे गळालें देहभान.

आलें माळ सारा हिंडुन  
हुंवर पशंसर्वे घालुन  
कोलाहलानें गलवलें रान.

कडा विप्पाड वेढी  
घाली उड्यांवर उडी  
नदी गर्जुन करी विहरण.

मेघ धरुं धावे  
वीज चटकन लवे  
गडगडाट करी दारुण.

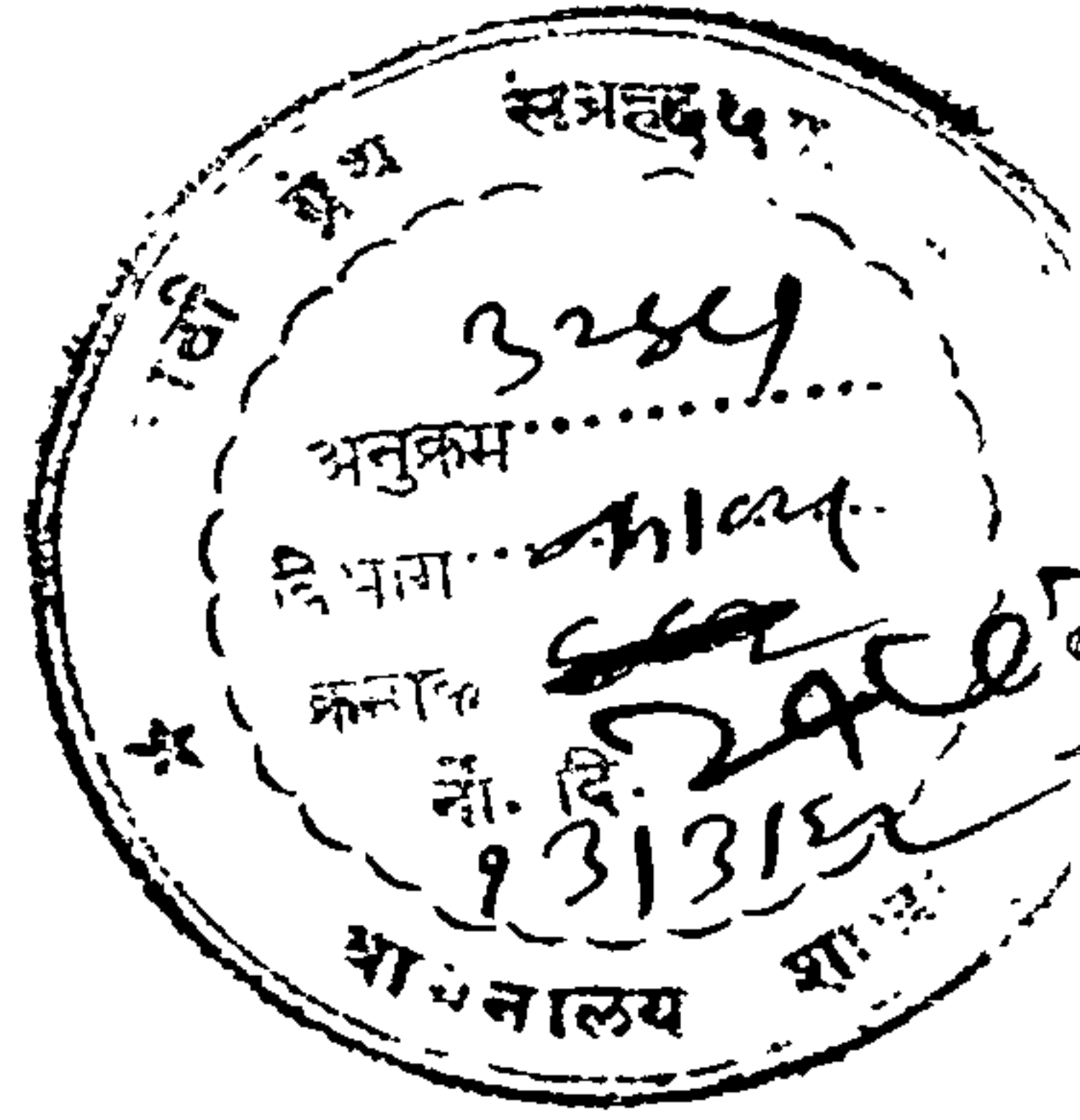
लागुन कळिकेच्या अंगा  
वायु घाली वांगडधिगा  
विसरुनी जगाचें जगपण.

सृष्टि सांगे खुणा  
आम्हां मुखस्तंभ राणा  
मुळीं आवडेना ! रे आवडेना !!

चल ये रे ये रे गड्या !  
नाचुं उडुं घालुं फुगड्या  
खेलुं झिम्मा झिम्-पोरी झिम्-पोरी झिम् !

हें विश्वाचें आंगण  
आम्हां दिलें आहे आंदणं  
उणें करुं आपण दोधेजण.

जन विषयाचे किडे  
यांची धाव बाह्याकडे  
आपण करुं शुद्ध रसपान.



‘ दिठीं दीठ ’ जातां मिळुन  
गात्रें गेलीं पांगळुन  
अंगीं रोमांच आले थरथरून.

चांफा फुलीं आला फुलुन  
तेजीं दिशा गेल्या आटुन  
कोण मी-चांफा ? कोठें दोघेजण ?

★ ★ ★

### ३ : तीव्र जाणीव

“ आम्हीं आद्यजगास चालन दिलें अध्यात्मतेजोबळें !  
“ काळाच्या उदरांत खोल अमुचीं आहेत गेलीं मुळें !  
“ द्याया पावनता, उदार समता, सत्प्रेरणा मानवा,  
“ आहे भारतसंस्कृति क्षम सदा ती आर्यकुक्ष्युद्धवा ! ”

जन्मानें अधिकारजाति ठरते, जन्मेंचि, नीचोत्तम,  
वज्राभेद समाजधोरण असें झालें जिथें कायम;  
तेथें शुद्ध समाजनीति, समता, सत्प्रेरणा नांदती,  
आढ्योक्तिप्रति ह्या मृषा करितसे प्रत्यक्ष सद्यःस्थिति !

कां ‘ अब्राह्मणवाद ’ नित्य अमुच्या मार्गीं पडे आडवा ?  
याचा सारविचारबोध अझुनी आम्हां नको का हवा ?  
नाना धर्मविमोह निर्मुनि जनां केलें निसर्गच्युत,  
ती कालोपहता समाजघटना कामा न ये सांप्रत !

येती भारतभूपटावरि नवे ताज्या दमाचे गडी,  
त्यांचे डाव अचाट, जोम जवरा, ईर्ष्या महा धांगडी !



निर्माया प्रतितोड त्यांस अमुचें सामर्थ्य सर्वस्व जें  
तें एकीकृत या विशेष विषयीं केलें तरी पाहिजे.

आपोआप घडेल इष्ट समयीं तें कार्य, हें बोलणें  
आहे भ्रामक ! युक्त काय सगळें काळावरी टाकणें ?  
भागीदार कृतींत मानव असे कालानिसर्गांसवें,  
आणा त्यास समीप एकवटुनी यत्नप्रयत्नोत्सवें.

भावी भारतभाग्यसूचक महाचिह्नें दिसों लागती,  
तो तों तीव्र समाजशुद्धिकरितां जाणीव होते अती,  
ठेवूं कृत्रिम भेद कायम, कुणा अस्पृश्य मानूं जरी,  
स्वातंत्र्यास अपात्र आपण ठरूं, घेऊनि शापा शिरीं !

दास्यत्वांत विलीन अज्ञभगिनी देखोनि ही आपदा,  
होतें रक्त न तीव्र तप्त तुमचें आर्यागनांनो ! यदा;  
बोला ! नूतन भारतीं नवजगद्भद्रार्थ वीरांप्रति  
निर्मायास समर्थ काय तुमची निःसत्त्व कुक्षिस्थिति ?

तें स्वातंत्र्य खरें न, फक्त अपुलीं जें तोडितें बंधनें,  
अन्यांच्या पदशृंखलांस बघतें निष्कंप ऐशा मनें;  
या त्या आपण वागवूं निजपदीं त्यांच्यासवें प्रत्यहीं,  
तोडूं त्यांस समग्र एक करुनी आकाशपाताळही !

ते आहेत गुलाम ! दूर करिती जे रंजले गांजले !  
ते आहेत गुलाम ! जे निजजनद्रोहीं सदा रातले !  
ते आहेत गुलाम ! जे कचरती सोसावया सांकडीं,  
तैशा शापशिव्याहि सत्यकथनीं प्रीतीचिया आवडीं !

## ४ : काव्यानंद

दैत्यांनो ! न समुद्रमंथन, वृथा येथें बळाची कथा  
 येथें वायुसुता ! हतप्रभ तुझी उड्डाणदर्पप्रथा.  
 होतें अक्षमवेग यद्यपि जगच्चक्षो ! तुझें दर्शन  
 वाया केवळ वादपाटव न हें वाचस्पते ! वाग्रण.

येथें अद्भुतरम्य नित्य पडलें स्फूर्तिप्रभेचें कडें,  
 अम्लान प्रतिभा-कळ्या उमलल्या आहेत चोहींकडे.  
 वोसंडे दुथडी भरूनि सरिता सत्कल्पना पावन  
 वृत्तींची रसलानि चंचळ खगश्रेणी करी क्रीडन.

सारींही जड इंद्रियें न शक्ती येथें प्रवेशावया  
 बुद्धिग्राह्य न वाव त्यास, न कळे ठाव प्रमाणत्रया.  
 वृत्त्यन्तर्गत टाकणें कठिणता, तद्रूपता पावणें,  
 काव्यानंदरसप्रसंग मग हा निस्संग संभोगणें !

\* \* \*

## ५ : पिकलें पान

पद्य मजला येईल करूं जातां,  
 त्यांत ओतूं मी काव्य कसें आतां ?  
 अंगिं नुरतां निर्माणशक्ति लेश  
 कसा यावा भर काव्यकौमुदीस ?

स्फूर्तिशक्तीचा होय लुप्त ' मंत्र '   
 तिथें झालें विकलांग वहन ' यंत्र '   
 ' तंत्र ' विस्मरलों, होय मी उदास !   
 कसा यावा भर काव्यकौमुदीस ?

एक नैसर्गिक जन्म सर्वमान्य,   
 अन्य होतो संस्कारकर्मजन्य.   
 छटा यांच्या होतां न एकजीव   
 काव्यसौंदर्यां भासते उणीव !

\* \* \*

# तांबे

( भास्कर रामचंद्र तांबे )

१ : कुणि कोडें माझें उकलिल का ?

कुणि कोडें माझें उकलिल का ?  
कुणि शास्त्री रहस्य कळविल का ?

धु०

हृदयिं तुझ्या सखि, दीप पाजळे,  
प्रभा मुखावरि माझ्या उजळे;  
नव रत्नें तूं तुज भूषविलें,  
मन्मन खुललें आंतिल कां ?

गुलाब माझ्या हृदयीं फुलला,  
रंग तुझ्या गालांवर खुलला;  
कांटा माझ्या पायीं रुतला,  
शूल तुझ्या उरिं कोमल कां ?

माझ्या शिरिं ढग निळा डंवरला,  
तुझ्या नयनिं पाउस खळखळला;  
शरच्चंद्र या हृदयिं उगवला,  
प्रभा तुझ्या उरिं शीतल कां ?

मद्याचा मी प्यालों प्याला,  
 प्रिये, तयाचा मद तुज आला;  
 कुणीं जखडिलें दोन जिवांला  
 मंत्रबंधनीं केवळ ? कां ?

प्रतापगढ, ता. ५ सप्टेंबर १९२०

\* \* \*

२ : घट भरे प्रवाहीं बुडबुडुनी

घट भरे प्रवाहीं बुडबुडुनी—  
 न दिसे तुज का न पडे श्रवणीं ?

धु०

पदर गळाला, उडे वायुवर,  
 कुरळे उडती केसहि भुरभुर,  
 प्रमदे, बघ त्यां सांवर, आवर—  
 कां उभी प्रवाहीं शून्य मनीं ?

स्त्रैर गार या झुळका वाहति,  
 मातीचा ये वास सभोंवति,  
 क्षितिजीं बघ ढग वरवर चढती,  
 बघ घरा निघाल्या सोबतिणी.

सळ डोळ्यांवर, काय पाहशी ?  
 कान देउनी काय ऐकशी ?

अचंचळ उभी व्याकुळ दिसशी—  
कां उचलिल घट येवोनि कुर्णा ?

पाउल नच तें, शेत सळसळे;  
शब्द न मानवि, तारा बोले;  
शीळ न, वायुच वंशीं खेळे;  
कां विरघळशी भ्रमिं फिरफिरुनी ?

कवळुनि पद जल थरारुनि हले;  
स्पर्शुनि शरिरा वारा वरळे,  
वेलि हसति तुज फुलुनि बघ फुलें,  
डोलती विनोदें तरु बघुनी !

प्रतापगढ, १४ सप्टेंबर १९२०

★ ★ ★

३ : घन तमीं शुक्र बघ राज्य करी !

घन तमीं शुक्र बघ राज्य करी,  
रे खिन्न मना, बघ जरा तरी !

धु०

ये वाहेरी अंडें फोडुनि  
शुद्ध मोकळ्या वातावरणीं,  
कां गुदमरशी आंतच कुडुनी ?  
रे ! मार भरारी जरा वरी.



प्रसवे अवस सुवर्णा अरुणा,  
 उषा प्रसवते अनंत किरणां,  
 पहा कशी ही वाहे करुणा  
 कां बागुल तूं रचितोस घरीं ?

फूल हंसे कांद्यांत बघ कसें,  
 काळ्या ढागिं बघ तेज रसरसे,  
 तीव्र हिमांतुनि वसंतहि हसे,  
 रे, उघड नयन, कळ पळे दुरी.

फूल गळे, फळ गोड जाहलें,  
 बीज नुरे, डौलांत तरु डुले;  
 तेल जळे, बघ ज्योत पाजळे;  
 का मराणिं अमरता ही न खरी ?

मना, वृथा कां भीशी मरणा  
 दार सुखाचें तें हरि-करुणा !  
 आई पाही वाट रे मना,  
 पसरोनि बाहु कवळण्या उरीं.

इंदूर, ता. २९ ऑक्टोबर १९२०.

\* \* \*

## ४ : मरणांत खरोखर जग जगते !

मरणांत खरोखर जग जगते;  
अधिं मरण, अमरण ये मग ते.

ध्रु०

अनंत मरणें अधीं मरावीं,  
स्वातंत्र्याची आस धरावी,  
मारिल मरणचि मरणा भावी,  
मग चिरंजीवपण ये वध ते.

सर्वस्वाचें दान अधीं करिं,  
सर्वस्वच ये स्वयें तुझ्या घरिं,  
सर्वस्वाचा यज्ञ करीं तरि  
रे ! स्वयें सैल बंधन पडते.

स्वातंत्र्याचा एकचि ठावा  
केवळ यज्ञचि मजला ठावा;  
यज्ञ मार्ग ! हो यज्ञ विसावा !  
का यज्ञाविण कांहीं मिळते ?

सीता सति यज्ञीं दे निज बळि,  
उजळुनि ये सोन्याची पुतळी,  
बली देउनी बळी हो बळी,  
यज्ञेंच पुढें पाउल बढते.

याज्ञिं अहर्निश रवि धगधगतो,  
स्वसत्त्वदाने पाश छेदितो,  
ज्योतिर्गण नव जन्मुनि जगतो,  
रे स्वभाव हा ! उलटें भलतें.

प्रकृति-गति ही मनिं उमजुनिया  
उठा वीर, कार्पण्य त्यजुनिया;  
'जय हर !' गर्जा मातेस्तव या !  
बडबडुनी कांहीं का मिळतें ?

\* \* \*

## ५ : जेव्हां लोचन हे

जेव्हां लोचन हे तुझे विहरती या माझिया लोचनीं  
तेव्हां ज्योति झळाळते जिवलगे, सौंदर्यसीमाच ती !  
वर्णाया तरि वर्ण आणुं कुठुनी ? कुंठेच माझी मती,  
राहीं मूक उभा, गती नच अतां वाचाळतेलागुनी.

कैशी मी लपवूं, कुठें छिपवुं ही रम्याकृतींची खनी ?  
हे माझे पडके भिकार घस्टें, या चोरही धेरिती,  
ठेवूं मी हृदयांतरीं तरि तया कांटे अतां व्यापिती,  
कोठें ठेवुं तरी सुरक्षित हिला काळाचियापासुनी ?

वाणीचें बनवीन मंदिर तरी सौभाग्य तें कोठुनी ?  
जें लाभे कविला तया यम जया कांपे सदा निर्दय.  
रंगीं रंगुनि जो रची सुकवितामंजूषिका-वाङ्मय  
त्याला ये लपवावया निजसखी, आशा वृथा मन्मनीं !

आतां दीनदयाघना, चरणिं रे ही एकचि प्रार्थना,  
नेतां पुण्यमयी प्रिया तिजसर्वे ने पातकी या जना.

\* \* \*

## ६ : साम्राज्यवादी

फस्त करी भक्षुनिया सर्व धान्यराशि हा,  
हडुकास्तव वसवस ये, झुंजे इतरांशि हा.

धु०

त्रिभुवनही या न पुरे, खादाडचि हा गिधाड  
कळवळतो वखवखला बापुडा उपाशि हा.

गिळि अपुलें, गिळि परकें; खांच ती तरी भरे न,  
शांतीच्या वर वाता, बोंबले अधाशि हा.

परमुलुखा जाळि, पोळि; लाखांचे खून करी;  
न्यायाचा वर तोरा; चोर चढवि फाशि हा.

शास्त्रतटीं तोफ घोर फडशा करि बंधूंचा !  
विश्वबंधुता खरि ही रक्षी दुबळ्यांशि हा !

मातित राबोनि गरिब धान्याचे रचिति ढीग;  
भक्षुनि रक्षक निरिच्छ बोका संन्यासि हा !

धन्य तुझी धर्मात्म्या ! पसरे हा जगड्व्याळ !  
चिरडी हा पायिं दीन, उन्नति करि खाशि हा !

\* \* \*

## ७ : रिकामे मधुघट

मधु मागशि माझ्या सख्या, परी  
मधुघटचि रिकामे पडति घरीं !

ध्रु०

आजवरी कमळाच्या द्रोणीं  
मधू पाजिला तुला भरोनी,  
सेवा ही पूर्विची स्मरोनी,  
करिं रोष न सख्या, दया करीं. .

नैवेद्याची एकच वाटी  
अतां दुधाची माझ्या गांठीं;  
देवपुजेस्तव ही कोरांटी  
बाळगीं अंगणीं कशी तरी.

तरुण-तरुणिंची सलज्ज कुजबुज,  
वृक्षझन्यांचें गूढ मधुर गुज,  
संसाराचें मर्म हवें तुज,  
मधु पिळण्या परि रे बळ न करीं !

ढळला रे ढळला दिन सख्या !  
संध्याछाया भिवविति हृदया,  
अतां मधूचें नांव कासया ?  
लागले नेत्र रे पैलतिरीं.

\* \* \*

## ८ : वाटेच्या वाटसरा

या, या हो, या हो रसिका, येथें लपा,  
जो शब्द वाळपणिं गेला त्याचा हा तोटानफा.

ती काय बोलते ऐका चोरुनि जरा,  
त्या तिऱ्हाईत पांथस्था जो आला तीच्या घरा.

“ जिवाचे लागेबांधे ठाव नाहीं सख्या भावा;  
वाटेच्या मुशांफिरा, जाई जाई दुज्या गांवा.

जन्मोजन्मींचं तें तळा गेलं आतां पाप;  
गुहेच्या अंधारांत लोपलं रे आपोआप.

चाळवोनी आतां ओढिशी कां वरवर ?  
वाटेच्या वाटसरा, दष्ट जादूची आवर.

विळांत झोपे नाग, नको घालूं रे फुंकर;  
चाळवून त्याला नको ओढूं वरवर.

असावधपणीं शब्द गेला कधीं काळीं;  
भरल्या संसारांत नको फोडूं रे किंकाळी !

झालं गेलं आतां नाहीं त्याचा मागमूस;  
माझे आई गंगे, कां रे उकरिशी कूस ?

सांज झाली तरी जाई जाई दुज्या गांवा,  
वाटेच्या वाटसरा, नको साधूं पुरा दावा.

कालवूं विष नको भरलेल्या आतां ताटीं,  
झालं गेलं त्याची कशासाठीं आटाआटी ?



जन्मजन्मींच्या रे तुझ्या ऋणानुबंधाची  
गोष्ट लांब गेली, वाट पुढील जन्माची.

पुढील जन्मीं आतां तुझा हिशेव करीन;  
गहाण जीव माझा, मी या जन्मीं परार्थीन.

लष्कर-ग्वाल्हेर, ता. २८ फेब्रुवारी १९३५

★ ★ ★

## दत्त

( दत्तात्रेय कोंडो घाटे )

### १ : आगगाडीस

नेइं मलां लवकरी  
झाला उशिर कित्ती हा तरी

धु०

मानस माझें स्वेच्छाचारि,  
मला सांडुनी तव स्कंधावरि,  
जाउन वसलें केव्हांचें धरिं;

जड काया ही परी,  
तरी तूं नेइं तिला सत्वरी.

पवनचपल जन तुजला म्हणती,  
मग कां धरिशी ही मंद गती ?  
ऐकून माझी दीन विनंती,

द्रव तुझिया अंतरीं,  
आला नाहीं ना तिळभरी ?

जों जों जवळ घराच्या जातों,  
तों तों अधिक उताविळ होतों,  
तव निर्जिवपण विसरुनि म्हणतों

वेड्यावेड्यापरी,  
वाई नेइं मला झडकरी.

२ : निज नीज माझ्या बाळा !

वा नीज गडे नीज गडे लडिवाळा !

निज नीज माझ्या बाळा

ध्रु०

रवि गेला रे सोडुनि आकाशाला,

धन जैसें दुर्भाग्याला.

अंधार वसे चोहिकडे गगनांत,

गरिबांच्या जेविं मनांत.

बघ थकुनि कसा निजला हा इहलोक;

मम आशा जेविं अनेक.

खडबड हे उंदिर करिती,

कण शोधायातें फिरती,

परि अंतीं निराश होती,

लवकरि हेही सोडितील सदनाला,

गणगोत जसें अपणांला.

बहुदिवसांच्या जुन्या कुडाच्या भिंती,

कुजुनी त्यां भोंकें पडतीं,

त्यांमधुनी त्या दाखविती जगताला,

दारिद्र्य आपुलें बाळा.

हें कळकीचें जीर्ण मोडकें दार,

कर कर कर वाजे फार,

हें दुःखानें कण्हुनि कथी लोकाला

दारिद्र्य आपुलें बाळा.

वाहतो फटींतुनि वारा,  
 सुकवीतो अश्रूधारा,  
 तुज नीज म्हणे सुकुमारा !  
 हा सूर धरी माझ्या या गीताला  
 निज नीज माझ्या बाळा !

जोंवरतीं हें जीर्ण झोंपडें अपुलें  
 दैवानें नाहीं पडलें,  
 तोंवरतीं तूं झोंप घेत जा बाळा,  
 काळजी पुढें देवाला !  
 जोंवरतीं या कुडींत राहिल प्राण,  
 तोंवरि तुज संगोपीन,  
 तदनंतरची करूं नको तूं चिंता  
 नारायण तुजला त्राता.  
 दारिद्र्या चोरिल कोण ?  
 आकाशा पाडिल कोण ?  
 दिग्वसना फाडिल कोण ?  
 त्रैलोक्यपती आतां त्राता तुजला,  
 निज नीज माझ्या बाळा !

तुज जन्म दिला सार्थक नाहीं केलें;  
 तुज कांहिं न मीं ठेवीलें  
 तुज कोणि नसे छाया तुज आकाश;  
 धन दारिद्र्याची रास;  
 या दाहि दिशा वस्त्र तुला सुकुमारा;  
 गृह निर्जन रानीं थारा;

तुज ज्ञान नसे अज्ञानाविण कांहीं;  
 भिक्षेविण धंदा नाही.  
 तरि सोडुं नको सत्याला;  
 धन अक्षय तेंच जीवाला;  
 भावें भज दीनदयाळा;  
 मग राक्षिल तो करुणासागर तुजला;  
 निज नीज माझ्या बाळा !

★ ★ ★

### ३ : दीपका !

स्नेहानें जळशी, तयासह दिव्या ! तूं राहसी अक्षय;  
 स्नेहावांचुन जीवही न धरिसी ऐसा तुझा निश्चय.  
 स्नेहाचा लवही मिळे न मजला, प्राणास कंटाळलों,  
 स्नेहावांचुन कोरडाच जळतो—हे काय मी बोललों ?

कानीं हें पडतांच काय तुजला वाटेल आइ बरें ?  
 वेड्याचे वच मानशील सखये ! कैसे बरें तूं खरे ?  
 मित्रा ! तूं म्हणशील खास बनला वेडा तुझा सोबती;  
 बोला—कांहीं म्हणा वदून चुकलों आतां न त्याची क्षिती !

★ ★ ★

## ४ : स्वतंत्रतेस—

बांधी ज्यास न शंखला, न कधिं जें कोणा उगा भीतसे,  
 ऐसें मानस मात्र मंदिर तुझें स्वातंत्र्यदेवी ! असे,  
 जेथें नित्य घनांधकार असतो कारागृहीं त्या सदा  
 तत्तेजस्तरणी प्रकाश करुनी त्याची हरी आपदा.

जों जों चंदन घाशित्ती अधिक दे तों तों सुगंधाप्रती,  
 जों जों कांचन तावती अधिक तें तों तों झळाळे अती;  
 जों जों रत्न शिलेवरी उगळित्ती तत्तेज तों तों चढे,  
 जों जों बद्ध तुला करूं बघति तूं स्वच्छंद तों तों गडे.

कोंडोनी अपकीर्ति होइ न तुझी सत्कीर्ति होते परी,  
 दंडोनी दुबळी नव्हेच उलटी होशी बलाढ्या खरी,  
 ज्यांना त्वद्गुण ठाउके, निज गृहीं त्वद्भक्त जे गाजती,  
 येथें तेच तुझ्या वधार्थ उठती ही नीति गे कोणती ?

\* \* \*

## ५ : शाहणी बाहुली

या वाई या वधा वधा काशि माझि वसालि बया;  
 ऐकूं न येतें, हळुहळु आशि माझि छवि बोलते.  
 डोळे फिर्विते, टुलुटुलु काशि माझि सोनि बघते.  
 वधा वधा तें, गुलुगुलु गालांतच काशि हंसते.



मला वाटते, इला वाई सारें कांहीं सारें कळते.  
सदा खेळते, कांहीं हट्ट धरून न मागे भलते.  
शाहाणि कशी, साडिचोळि नवी ठेवि जशिच्या तशी.

\* \* \*

# गोविंदाग्रज

:( रामं गणेश गडकरी )

१ : ती कोण ?

दूरस्था जलधीकडे स्वहृदया नेते नदी वाहुनी,  
शोधाया रसिकास नित्य कविता हिंडे न आशा तूटे  
भूलोकावर राहते कुमुदिनी चंद्राकडे पाहुनी,  
रात्रीमागुनि धावतो दिवसही, कीं भेट व्हावी कुठें ?

जीवाचें जगणें असेंच असतें सापेक्ष प्रेमावरी  
डोळेभेट दुरून; भाव अथवा आशाहि त्याला पुरे;  
मी हें पाहुनि जीवबंधन असें शोकार्त होतो परी,  
कांकीं या मम लक्ष्यशून्य हृदयीं कांहीं न आशा स्फुरे !

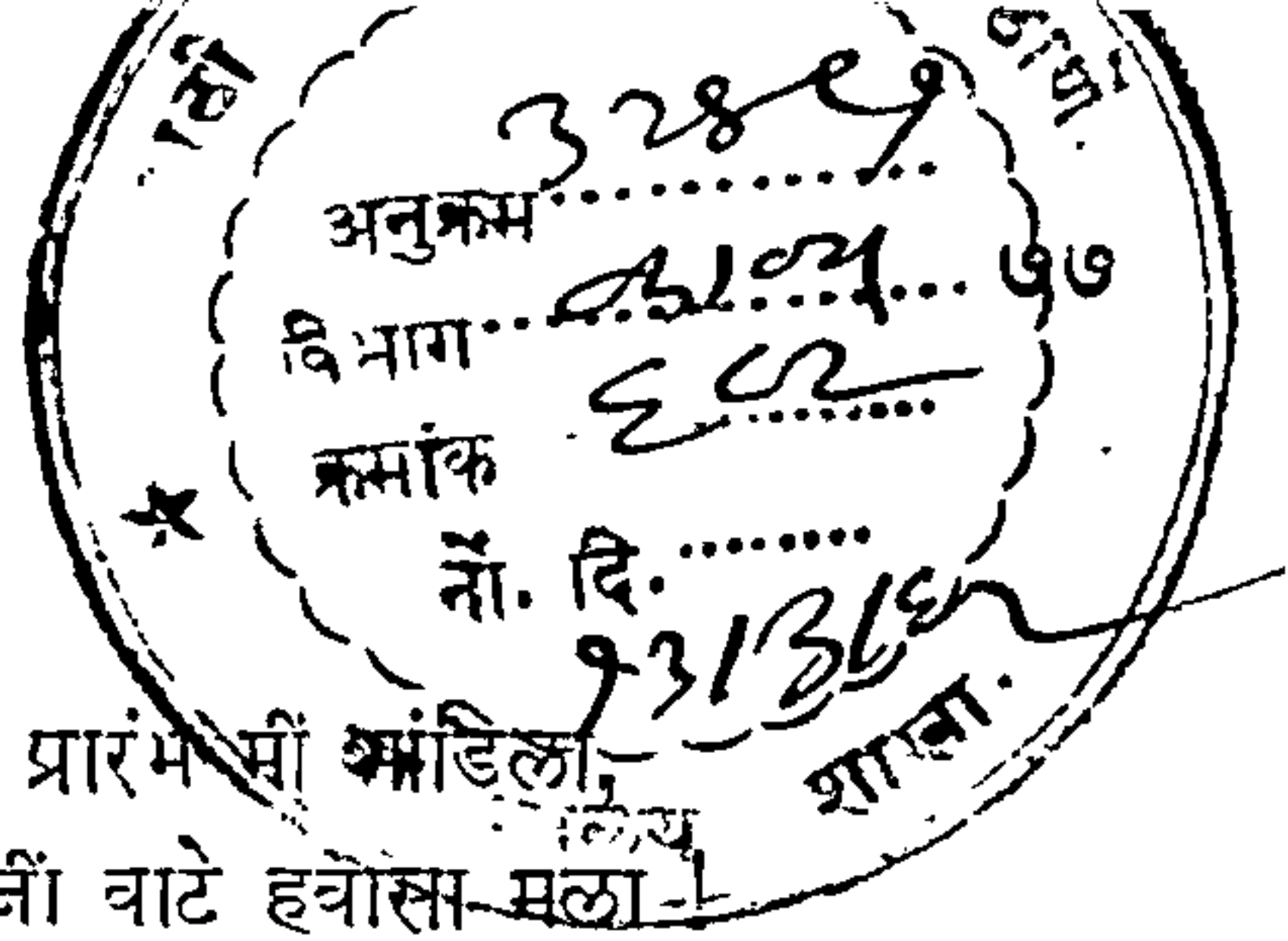
ओठांशीं भिडतें रहस्य मनिंचें—सांगूं कुणाला परी ?  
अश्रू हे नयनींहि—माळ करुनी घालूं कुणाच्या गळां ?  
आलें हें भरुनी रितें हृदयही—देऊं कुणाच्या करीं ?  
आला दाटुनि कंठ—हाय ! रडुनी कोठें करूं मोकळा ?

जी माझ्यास्तव, मी जिचें सकलही, आधार जी जीवनीं  
देवा ! भेटविं—दाखवीं तरि मला ती कोण देवी जनीं ?

\* \* \*

गोविंदाग्रज

२ : विरामचिन्हें



जेव्हां जीवनलेखनास जगतीं प्रारंभ मीं झालिला,  
जो जो दृष्टिंत ये पदार्थ सहजीं वाटे हवोस मला !  
बाल्याची पाहिली अशी बदलली दृष्टी सदा वागडे,  
तेव्हां ' स्वल्पविराम ' मात्र दिसती स्वच्छंद चोर्हीकडे !

आहे काय जगांत ? काय तिकडे ? हें कोण ? कोठें असे ?  
सांगा ईश्वर कोण ? त्या पालिकडे तें काय ? केव्हां ? कसे ?  
जें तें पाहुनि यापरी भक्तसें; दृक् संशयें टाकित,  
सारा जीवनलेख मी करितसें तें ' प्रश्नचिन्हां ' कित !

अर्धांगी पुढती करी वश मना, शृंगारदेवी नटे,  
अर्धे जीवन सार्थ होइल इथें साक्षी मनाची पटे;  
प्रेमानें मग एकजीव बनतां भूमीवरी स्वर्ग ये !  
केला ' अर्धविराम ' तेथ; गमलें येथून हालूं नये !

झाली व्यापक दृष्टि, चित्त फिरलें साश्चर्य विश्वांतरीं,  
दिकालादि अनंतरूप वधतां मी होत वेड्यापरी !  
सूक्ष्मस्थूलहि सारखीं भ्रमव्रिती, लागे मुळीं अंत न,  
त्या काळीं मग जाहलें सहजची ' उद्गार ' वाची मन !

आशा. प्रेम, नवीन वैभव, तशी कीर्तिप्रभा, सद्यश  
हीं एकेक समर्थ आज नसती चित्ता कराया वश !  
सर्वांचा परमोच्च संगम चिरं जेथें असे जाहला,  
देवा ! ' पूर्णविराम ' त्या तव पदीं दे शीघ्र आतां मला !

## ३ : प्रेम आणि मरण

“ जर्गीं सांगतात प्रीत पतंगाची खरी ।  
झड घालून प्राण देतो दीपकाचे वरी ॥ ”

—श्रीहोनाजी बाळ

कुठल्याशा जागीं देख  
मैदान मोकळें एक ॥ पसरलें  
वृक्ष थोर एकच त्यांत  
वाढला पुऱ्या जोमांत ॥ सारखा  
चहुंकडेच त्याच्याभंवतें  
गुडघाभर सारें जग तें ॥ तेथलें  
झुडुपेंच खुरट इवलालीं  
मातींत पसरल्या वेली ॥ माजती  
रोज तीं । कैक उपजती । आणखी मरती  
नाहिं त्यां गणती । दादही अशांची नव्हती । त्याप्रती

त्यासाठीं मैदानांत  
किति वेली तळमळतात ॥ सारख्या  
परि कर्माचें विंदान  
काहीं तरि असतें आन ॥ चहुंकडे  
कोणत्या मुहूर्तावरती  
मेघांत वीज लखलखती ॥ नाचली  
त्या क्षणीं । त्याचिया मनीं । तरंगति झणीं  
गोड तरि जहरी । प्रीतीच्या नत्रथर लहरी ॥ न कळता

तो ठसा मनावर ठसला  
तो घाव जिव्हारीं वसला ॥ प्रीतिचा  
वेड पुरें लात्री ल्याला  
गगनांतिल चंचल बाला ॥ त्यावरी  
जातिधर्म त्याचा सुटला  
संबंध जगाशीं तुटला ॥ त्यापुढें  
आशाहि । कोठली कांहीं । राहिली नाहिं  
सारखा जाळी । ध्यास त्यास तीन्ही काळीं ॥ एक तो

मुसळधार पाऊस पडला  
तरि कधीं टवटवी त्याला ॥ येइना  
जरि वारा करि थैमान  
तरि हले न याचें पान ॥ एकही  
कैकदां कळ्याही आल्या  
नच फुलल्या कांहीं केल्या ॥ परि कधीं  
तो योग । खरा हटयोग; । प्रीतिचा रोग  
लागला ज्याला । लागतें जगावें ल्याला ॥ हें असें

ही त्याची स्थिति पाहुनिया  
ती दीड वितीची दुनिया ॥ वडबडे  
कुणि हंसे कुणी करि कींव  
तडफडे कुणाचा जीव ॥ त्यास्तव  
कुणि दयाहि त्यावरि करिती  
स्वर्गस्थ देव मनिं हंसती ॥ त्याप्रती  
निंदिती । कुणी त्याप्रती । नजर चुकविती  
भीतिही कोणी । जड जगास अवजड गोणी ॥ होइ तो

इष्काचा जहरी प्याला  
 नशिवाला ज्याच्या आला ॥ हा असा  
 टोंकाविण चालू मरणें  
 तें त्याचें होतें जगणें ॥ सारखें  
 हृदयाला फसवुनि हंसणें  
 जीवाला न कळत जगणें ॥ वरिवरी  
 पटत ना । जगीं जगपणा । त्याचिया मना  
 भाव त्या टाकी । देवांतुनि दगडचि बाकी ॥ राहतो

यापरी तपश्चर्या ती  
 किति झाली न तिला गणती ॥ राहिली  
 इंद्राच्या इंद्रपदाला  
 थरकांप सारखा सुटला ॥ भीतिनें  
 आश्चर्ये ऋषिगण दाटे  
 ध्रुवबाळा मत्सर वाटे ॥ पाहुनी  
 तों स्वतां । तपोदेवता । काल संपतां  
 प्रकटली अंतीं । “ वरं ब्रूहि ” झाली वदती ॥ त्याप्रती

“ तप फळास आलें पाही  
 माग जें मनोगत कांहीं ॥ यावरी  
 हो चिरंजीव लवलाही  
 कल्पवृक्ष दुसरा होई ॥ नंदनीं  
 प्रळयींच्या वटवृक्षाचें  
 तुज मिळेल पद भाग्याचें ॥ तरुवरा ”  
 तो वदे । “ देवि सर्व-दे, । हेंच एक दे-  
 भेटवीं मजला । जीविंच्या जिवाची बाला ॥ एकदां ”



सांगती हिताच्या गोष्टी  
 देवांच्या तेतिस कोटी ॥ मग तया  
 “ ही भलती आशा वा रे  
 सोडिं तूं वेड हें सारें ॥ घातकी  
 स्पर्शासह मरणाहि आणी  
 ती तुझ्या जिवाची राणी ॥ त्या क्षणीं  
 ही अशी । शुद्ध राक्षसी । काय मागसी  
 माग तूं कांहीं । लाभलें कुणाला नाहीं ॥ जें कधीं ”

तो हंसे जरा उपहासें  
 मग सर्वेच बदला त्रासें ॥ त्यांप्रति  
 “ निष्प्रेम चिरंजीवन तें  
 जगिं दगडालाहि मिळते ॥ धिक् तया  
 क्षण एक पुरे प्रेमाचा ।  
 वर्षाव पडो मरणांचा । मग पुढें ”  
 निग्रहें । वदुनि शब्द हे । अधिक आग्रहें  
 जीव आवरुनी । ध्यानस्थ बैसला फिरुनी ॥ वृक्ष तो

तो निग्रह पाहुनि त्याचा  
 निरुपाय सर्व देवांचा ॥ जाहला  
 मग त्याला भेटायला  
 गगनांतिल चंचल बाला ॥ धाडिली  
 धावली उताविळ होत  
 प्रीतीची जळती ज्योत ॥ त्याकडे  
 कडकडे । त्यावरी पडे । स्पर्श जों घडे  
 वृक्ष उन्मळला । दुभंगून खालीं पडला ॥ त्या क्षणीं

दृभंगून खालीं पडला  
 परि पडतां पडतां हंसला ॥ एकदां  
 हर्षाच्या येउनि लहरी  
 फडफडुनी पानें सारीं ॥ हांसलीं  
 त्या कळ्या सर्वही फुलल्या  
 खुलल्या त्या कायम खुलल्या ॥ अजुनिही  
 तो योग । खरा हटयोग; प्रीतिचा रोग  
 लागला ज्याला । लाभतें मरणही त्याला ॥ हे असें

स्मरणार्थ त्याच्या ही बोलांची रानपालवी  
 मराठी रसिकांसाठीं ' गोविंदाग्रज ' पाठवी.

★ ★ ★

## ४ : अल्लड प्रेमास

क्षणभर वेड्या प्रेमा थांब

ध्रु०

अधिर मनासह जासी कोठें ?

चुकाशिल-संक्रांतिं पडशिल वाटे,

जग हें सारें वा रे खोटे !

हृदय सोडुनि; गड्या म्हणोनी, जाइ न कोठें लांब !

क्षणीं पांढरा क्षणींच काळा,

रंग आवडे असा जगाला,

ठाव त्याचा कुणा न कळला !

खुळ्या तुलाची, अशा जगाची, कळेल का कृति सांग ?

जग सगळें हें देखाव्याचें !  
 गुलाम केवळ रे स्वार्थाचें !  
 स्मशान कीं हें शुद्धत्वाचें !  
 शुद्ध भावडें, सरळ रोकडें, अशांत करिशिल काय ?

प्रेमा येथें शपथ लागते !  
 प्रासावांचुनि कविता अडते !  
 कर्त्यावांचुनि कार्यहि घडतें !  
 देव विचारा, तया न थारा, तुझी कथा मग काय ?

तुझ्यासारखा तुला सोवती—  
 मिळेल का या अफाट जगतीं ?—  
 —संकुचितहि हें अफाट जरि अति—  
 आणी न मना, अशी कल्पना, अगदीं भोळा सांब !

कोणी तुजला मानिल खोटें,  
 तिरस्कारही दिसेल कोठें  
 अपमानाचेंही भय मोठें,  
 वाग जगाची, ही न फुलांची, कांटे जागोजाग !

टाकिल कुणि तुज धिक्कारानें,  
 रडविल किंवा उपहासानें,  
 फसविल नकली कीं मालानें,  
 कोणी भटकत, उगाच रखडत, फिरविल मागोमाग !

म्हणुनि लाडक्या ! कुठें न जाई,  
 या हृदयांतचि लपुनी राही,  
 योग्य मित्र नच सुख तरि नाही !  
 कुसंगतीहुनी, वेड्या ! मानी, फार वरा एकांत !

\* \* \*

## ५ : गोफ

पदर आणिले तुझे कांहिं तूं, माझे आणीं मीहि तसा  
 हांसत खेळत गोफ गुंफिला, कळलें नाहीं कधीं कसा  
 एकामेकांभंवतीं फिरतां, गिरकी जीवांना आली  
 चढत चालला खेळ जसा तो, नजरहि धुंद तशी झाली  
 कुणीं निंदिलें कुणीं वंदिलें, कुणि हंसलें रडलेंहि कुणी  
 नाहिं पाहिलें आम्हीं तिकडे, विश्व बुडालें प्रेमगुणीं  
 परि देवाचा खेळ निराळा-खेळ नकोसा तुज झाला  
 ज्या खेळानें जीव रंगला, त्याचा कंटाळा आला  
 गोफ गुंफिला उलगडण्याचा कठिण काळ येउनि थडके  
 हाय ! वदावें काय, जिवलगे, उर तेवढा हा धडके  
 हळूहळू ओढणें हळु जरा, ओढायाची कां घाई ?  
 मलता धागा ओढितांच तूं, जीव जिवलगे, हा जाई  
 थांव, उलगडूं गोफ कठिण हा शांत बुद्धिनें सखे असा-  
 कीं न तुटावा पदर एकही, धागा, धागा नीट तसा  
 ना तरि होइल हानि आपुली आणि जगाचें हंसें तसें  
 एक्या ठायीं आलों कां वद दूर व्हावया सखे असे

कठिण असे, तरि उलगडणें हा गोफ असे आतां भाग  
 ना तरि त्याचा पीळ राहुनी छळील तो जागोजाग  
 मनापासुनी जें केलें, जें मान्य जिवांनाही झालें  
 विमनस्कपणें परी आज तें निस्तरणें नाशिबीं आलें  
 कठिण जोडणें परी तोडणें सुकर वाटतें जनांप्रती  
 उलटा अनुभव आला आम्हां, गुंग जाहली इथें मति !  
 खेळतां गुंफिला गोफ, जीव त्यालागिं वाहिला  
 'गोविंदाग्रज' सांगेना—कीं त्याचा पीळ राहिला !

\* \* \*

## ६ : परमाणूंचें कार्यमाहात्म्य

गिरिशिखरें खरतांना त्यांतुनि कण वाळूचे पडतात,  
 महासागरोदरीं तेथुनी विश्रंतीस्तव दडतात;  
 कालमापनास्तव जन त्यांना घटिकायंत्रां भरतात,  
 क्षणाक्षणासह एक एक ते खालीं भरभर झरतात;  
 गिरिस्वरूपा उन्नतिच्या ते कारिती देहाची घटना,  
 विस्तारास्तव शय्यारचना मग करणें लागे त्यांना;  
 झटति अनंतर अनंतांतही शोधायास्तव परिमाणा,  
 कालस्वरूप कालाचीही मोजिति घटका भरतांना;  
 निजकवनाचें मसिलेखन हें, पुसुनि न जावें क्षुद्र तरी;  
 'गोविंदाग्रज' यास्तव त्यावरि वाळूचे कण हे पसरी

\* \* \*

## ७ : चिन्तातुर जन्तु !

“ निजलें जग; कां आतां इतक्या तारा खिळल्या गगनाला ?  
काय म्हणावें त्या देवाला—” “ वर जाउनि म्हण जा त्याला.”

“ तेज रविचें फुकट सांडतें उजाड माळावर उघड्या  
उधळणूक ती वधवत नाही—” “डोळे फोडुनि घेच गड्या.”

‘ हिरवीं पानें उगाच केलीं झाडांवर इतकीं कां हीं ?  
मातित त्यांचें काय होतसे ?—” “ मातिस मिळुनी जा पाहीं ! ”

“ पुराबरोवर फुकटावारी पाणी हें वाहुनि जात  
काय करावें जीव तळमळे—” “ उडी टाक त्या पूरांत ! ”

“ ही जीवांची इतकी गरदी जगांत आहे का रास्त ?  
भरती मूर्खांचीच होत ना ? ” “ एक तूंच होसी जास्त ! ”

देवा, तो विश्वसंसार राहूं द्या राहिला तरी  
या चिन्तातुर जन्तूना एकदां मुक्ति द्या परी !

\* \* \*

## ८ : फूल ना फुलाची पाकळी !

शहाजहानाआधीं मेली ख्यालिखुशाली ती त्याची  
खडा तेवढा ताजमहालच भूषा जी या जगताची.

चुकल्या तरुणा ! वेश्याक्रीडन आज तुझें स्मरणांत नसे  
कालिदासकृत शाकुंतल परि सरस्वतीच्या कांठिं असे



खुनी खड्यांनीं भरले रांजण वाल्याचे फुटले सारे  
उरलें रामायण तें नटवी श्रीरामा निज आधारे.

गोकुळांतल्या चोराचा नच गोपींना आतां त्रास  
श्रीकृष्णाची गीता उरली द्याया मरत्या उल्हास.

गडगडणें, काळोख, विजा हीं गेलीं वळवाच्या मार्गे  
अन्नब्रह्मचि साक्ष तयाची द्याया हें राही जागें.

कांटे सुकले फांदीवरतीं—धन त्यांची झाली राना  
गुलाब देवा, तुम्हां वाहिला, गोड करुनि तो कां ध्याना ?

दूषण वगळुनि भूषणमात्रें प्रभुपूजन करि काळ असें  
तुम्हीं आम्हीं काष्टी होणें हा कुठला मग न्याय असे !

‘ गोविंदाग्रज ’ अर्पी ही स्वभावे चरणांवरी  
रसिका, ध्या फूल नाहीं फुलाची पाकळी तरी !

\* \* \*

# रेंदाळकर

( एकनाथ पांडुरंग रेंदाळकर )

## १ : प्रबोधन

उघडिं नयन ! रम्य उषा हसत हसत आली  
अरुणकिरणमय वसना अवनी ही ल्याली !

ध्रु०

मंजु मधुर गान करित  
विहगवृंद गगनि उडत

आनंदें भुवन भरित  
या सुरम्य काली !

हसति फुलें, तरु डुलती  
धावाति या भ्रमरतती

लतिकागण नृत्य करिति  
सुप्ति तुला आली !

स्निग्ध दृष्टि तव पडतां  
रविकरिं घनपंक्ति तथा

होय वृत्ति सुखभरिता  
स्वर्णमय जहाली !

सुप्रभात सुखकर हा  
रमवी सकलांस पहा

दारुण तिमिरोत्करहा  
दिव्य विभवशाली !

ऊठ ऊठ ! तुजविण परि  
विफल गमत तें ज्यावरि

नीरस हें सुख सुन्दरि !  
दृष्टि न तव गेली !

विकचकमलगन्धि पवन  
त्यांत परी श्वसन तव न

शीतल करि तापशमन  
तप्त तनु जहाली !

खगकूजित अलिरुंजित  
सुदति ! विफल सकल गमत

लतिकातरुगणसिंजित  
तुजविण या काली !

|                         |                        |
|-------------------------|------------------------|
| गगन तरणिकररंजित         | चपल धवल घन विहरत       |
| क्षणहि परि न दृष्टि वळत | तव मुखिं दृढ ठेली !    |
| ऊठ ऊठ ! सखि झडकारि      | नयनद्युति चपल पसरि     |
| रम्य मधुर हास्य करी     | स्वर्ग आण खालीं !      |
| प्रेमाचा ओघ सरल         | वाहो तव मुखिं अविरल !  |
| अचरहि जग करुनि तरल      | बुडविं सुखिं विशालीं ! |

\* \* \*

२ : भाऊ भाऊ आम्ही सारे भाऊ

भाऊ भाऊ ! आम्ही सारे भाऊ आहों वरें !  
स्वर्गाचांचुनि दुसरें कांहीं भुवनीं नाहींच रे !

जिकडे तिकडे पीयूषाच्या मधुलहरी उसळती !  
जिकडे तिकडे शांत मनोहर तेजें कोदाटती !

नक्षत्रांच्या माला घालुनि सारे आनंदुनी  
कल्पतरूंचा कुसुममरंद प्राशितात नंदनीं !

रविकररंजित घनशकलांवरि वसुनि मुदें विहरती !  
स्वयंप्रकाशें निविड तमींही स्वच्छंदें चालती !

‘ मी ’ ‘ माझे ’ यांचांचुनि जगतीं कांहीं नाहीं दुजे !  
आत्मत्वाचें बीज पेरिलें तेंच चहुंकडे रुजे !

देश जाति वा धर्मपंथही, तिकडे पाहीं न मी !  
सान थोर वा वृद्ध, भेद हा मानुनि होऊं श्रमी ?

असोत कोणी ते !—ते माझे, मी त्यांचा हें खरें !  
प्रेमगुणानें गुंफूं आपण सकलांचीं अंतरें !

प्रेमसमुद्रीं जलप्रवाहासम जाऊं मिसळुनी !  
“ भाऊ आपण ! ” या गीतानें नभ टाकूं कोणुनी !

एकत्वाची स्फुरदीपिका धरुनी हातीं चला !  
अवनतिचा अंधार नाशुनी कांति भरा निर्मला !

जग हें सारें प्रेमज्योती लावुनि उजळूं त्वरें !  
भाऊ आपण सर्व ! तत्त्व हें लोकां पटवूं खरें !

चला चला तर करित गर्जना जाऊं द्वैतावरी—  
अद्वैताचें साम्राज्य प्रिय पसरूं अवनीवरी !

\* \* \*

### ३ : काव्यदेवीला

निसर्गमृदु पाद हे रुचिर काव्यदेवी ! तुझे,  
कशास मग सांग या यमकशृंखला घातल्या ?  
तुझीं ललित नर्तनें कुठुनि चालतीं स्वैरशीं ?  
स्वभावमधुरे ! किमर्थ तुज भूषणांची स्पृहा ?

न भावधन का तुझ्याजवळ ?—विश्व जें मोहवी—  
तुझे हृदय शोभलें गुणगणोदये मंगले !  
कसा तुजसि मोह हा मग पडे जडाभूषणीं ?  
कुणीं रचुनि शिंपले मणिमये ! तुला माण्डिलें ?

भरील नव रंग का रुचिर इन्द्रचापीं कुणीं ?  
 नको मृदु करावया मृदुल पद्मपत्रा कदा !  
 सुधांशुकलिकेस का धवलता कुणीं अर्पिली ?  
 किमर्थ नव मंत्र ते शुचि करावया जान्हवी ?

सुगंध वितरावया झटत पारिजातास जो  
 झटो सतत तो सुखें; करिं न मी तया वारण !  
 निसर्गकविता असे मधुनिसर्गलीला खरी,  
 न हीन रमणीपरी तिजसि आवडे शृंखला !

\* \* \*

४ : काय बरें झालें !

वनराणीपरि असावयाची हिंडत शेतांतुनी,  
 अशी कां खिन्न आज साजणी ?

हलुनि गव्हाच्या पिवळ्या लोंब्या हळूच वाऱ्यावरी  
 मजा ती कशी दिसे बघ तरी !

नदीकांठच्या शेतामधुनी ' राया ' चाले कसा  
 मानकरि काय कोठला जसा !

बघ तिकडे ' पवळी ' रवथ करित राहिली,  
 बघ तिकडे करडें कशीं नाचनाचलीं !  
 तूं मात्र इथें आहेस उगी बैसली !

• पण हा मोल्या पहा तर खरा गेला भांबावुनी  
 ऊठ ना खिन्नपणा सोडुनी !

हा डोंगर ठाकला, वाहतो ओढा दुसरीकडे  
शेत हें तुझेंच हो ना गडे ?

तुझ्या हातचा चारा खाया उतावीळ पाडसें  
मुलें हीं तुझीं न का राजसे ?

या शेतामधलीं झाडे, पानें, फुलें,  
हें असो, प्राणही तुजला मीं वाहिले !  
तूं राणी कांहीं उणें न तुज ठेविलें !

कां ग मंजुळे ! मग मज बघतां खुदकान् ना हांसिती,  
चूक तरि काय जाहली अशी ?

\* \* \*

## ५ : अजून चालतोंचि वाट

अजुनि चालतोंचि वाट ! माळ हा सरेना !  
विश्रान्तिस्थल केव्हां यायचें कळेना !

त्राण न देहांत लेश, पाय टाकवेना,  
गरगर शिर फिरत अजी होय पुरी दैना !

सुखकर संदेश अमित पोंचविले कोणा,  
भार वाहुनी परार्थ जाहलों दिवाणा !

कांढ्यांवरि घातलाचि जीव तयासाठीं,  
हंसवाया या केली किति आटाआटी !

हेंच खास माझे घर म्हणुनि शीण केला,  
उमगुनि मग चूक किति अश्रुसेक झाला;



दिन गेले, मास तसे वत्सरेंहि गेलीं,  
निकट वाटते जीवनसंध्या ही आली !

कुठुनि निघालों, कोठें जायचें न ठावें,  
मार्गांतच काय सकळ आयु सरुनि जावें !

काय निरुद्देश सर्व जीवन मम होतें  
मरुसरितेपरि अवचित झरुनि जायचें तें ?

पुरे ! पुरे ही असली मुशाफरी आतां,  
या धूलित दगडावर टेकलाच माथा !

\* \* \*

# बालकवि

( च्यंबक बापूजी ठोमरे )

## १ : फुलराणी

हिरवे हिरवे गार गालिचे  
त्या सुंदर मखमालीवरतीं  
गोड निळ्या वातावरणांत  
प्रणयचंचला त्या भ्रूलीला  
आईच्या मांडीवर वसुनी  
याहुनि ठावें काय तियेला

पुरा विनोदी संध्यावात  
तोच एकदां हांसत आला  
“ छानी माझी सोनुकली ती  
कोण वरें त्या संध्येंतून  
तो रविकर का गोजिरवाणा  
लाजलाजली या वचनांनीं

आंदोलीं संध्येच्या वसुनी  
त्या रजनीचे नेत्र विलोल  
जादूटोणा त्यांनीं केला  
निजलीं शेतें, निजलें रान,  
अजून जागी फुलराणी ही  
लागेना डोळ्याशीं डोळा

हरित तृणाच्या मखमालीचे;  
फुलराणी ही खेळत होती.  
अव्याज मनें होती डोलत;  
अवगत नव्हत्या कुमारिकेला.  
झोंके घ्यावे, गावीं गाणीं;  
साध्या भोळ्या फुलराणीला ?

डोलडोलवी हिरवें शेत;  
चुंबून म्हणे फुलराणीला:—  
कुणाकडे ग पाहत होती ?  
हळुच पाहतें डोकावून ?  
आवडला अमुच्या राणींना ? ”  
साधी भोळी ती फुलराणी !

झोंके झोंके घेते रजनी;  
नभीं चमकती ते ग्रहगोल !  
चैन पडेना फुलराणीला;  
निजले प्राणी थोरलहान.  
आज कशी ताळ्यावर नाहीं ?  
काय जाहलें फुलराणीला ?

या कुंजांतुन, त्या कुंजांतुन  
मध्यरात्रिच्या निवांत समयीं  
त्या देवीला ओंव्या सुंदर  
झुलुनि राहिलें सगळें रान  
प्रणयचिंतनीं विलीनवृत्ति  
डुलतां डुलतां गुंग होउनी

“ कुणी कुणाला आकाशांत  
हळुच मागुनी आलें कोण,  
प्रणयखेळ हे पाहुनि चित्तीं  
तो व्योमींच्या प्रेमदेवता  
हळूच आल्या उतरुन खालीं  
परस्परांना खुणवुनि नयनीं  
स्वभूमीचा जुळवित हात  
खेळुनि दमल्या त्या ग्रहमाला  
आकाशींची गभीर शांती  
विरुं लागलें संशयजाल,  
शुभ्र धुक्याचें वस्त्र लेवुनी  
स्वप्नसंगमीं रंगत होती

तेजोमय नव मंडप केला  
जिकडेतिकडे उधळित मोतीं  
लाल सुवर्णीं झगे घालुनी  
कुणीं बांधिला गुलाबि फेटा  
आकाशीं चंडोल चालला  
हें थाटाचें लग्न कुणाचें ?

इवल्याशा या दिवळ्या लावुन,  
खेळखेळते वनदेवी ही.  
निर्झर गातो; व्या तालावर—  
स्वप्नसंगमीं दंग होउन !  
कुमारिका ही डोलत होती;  
स्वप्ने पाही मग फुलराणीः—

प्रणयगायनें होतें गात;  
कुणी कुणा दे चुंबनदान ! ”  
विरहार्ता फुलराणी होती;  
वाच्यावरती फिरतां फिरतां—  
फुलराणीसह करण्या केली.  
त्या बदल्या ही अमुची राणी !  
नाचनाचतो प्रभातवात;  
हळुहळु लागति लपावयाला  
मंद मंद ये अवनीवरतीं;  
संपत ये विरहाचा काल.  
हर्षनिर्भरा नटली अवनी;  
तरीहि अजुनी फुलराणी ती !

लख्ख पांढरा दहा दिशांला,  
दिव्य वज्हाडी गगनीं येती;  
हांसत हांसत आले कोणी;  
झकमकणारा सुंदर मोठा !  
हा वाड्निश्चय करावयाला;  
साध्या भोळ्या फुलराणीचें !

गाउं लागले मंगलपाठ  
वाजवि सनई मारुतराणा  
नाचुं लागले भारद्वाज,  
नवरदेव सोनेरी रविकर  
लग्न लागतें ! सावध सारे !  
दंभमय हा अंतःपट फिटला

वधूवरांना दिव्य रवांनीं,  
त्यांत कुणीसें गुंफित होतें  
आणिक तेथिल वनदेवीही  
लिहीत होत्या वातावरणीं  
गुंगत गुंगत कवि त्या ठायीं  
त्यानें तर अभिषेकच केला

सृष्टीचे गाणारे भाट,  
कोकिल घे तानांवर ताना !  
वाजविती निर्झर पखवाज,  
नवरी ही फुलराणी सुंदर !  
सावध पक्षी ! सावध वारे !  
भेटे रविकर फुलराणीला !

कुणीं गाइलीं मंगल गाणीं;  
परस्परांचें प्रेम ! अहा तें !  
दिव्य आपुल्या उच्छ्वासांहीं  
फुलराणीची गोड कहाणी !  
स्फूर्तीसह विहराया जाई;  
नवगीतांनीं फुलराणीला !

★ ★ ★

## २ : श्रावणमास

श्रावणमासीं हर्ष मनासीं हिरवळ दाटे चोहिकडे;  
क्षणांत येतें सरसर शिरवें, क्षणांत फिरनी ऊन पडे.  
वरती बघतां इंद्रधनूचा गोफ दुहेरी विणलासे,  
मंगल तोरण काय बांधिलें नभोमंडपीं कुणि भासे !  
झालासा सूर्यास्त वाटतो, सांज अहाहा ! तों उघडे;  
तरुशिखरांवर, उंच घरांवर पिवळें पिवळें ऊन पडे.  
उठती वरतीं जलदांवरतीं अनंत संध्याराग पहा;  
सर्व नभावर होय रेखिलें सुंदरतेचें रूप महा.

बलाकमाला उडतां भासे कल्पसुमांची माळचि ते,  
उतरुनि येती अवनवीरतीं ग्रहगोलचि कीं एकमते.

फडफड करुनी भिजले अपुले पंख पांखरें सांवरिती,  
सुंदर हरिणी हिरव्या कुरणीं निजवाळांसह बागडती.

खिछारें हीं चरती रानीं, गोपहि गाणीं गात फिरे,  
मंजुळ पावा गाय त्याचा श्रावणमहिमा एकसुरें.

सुवर्णचम्पक फुलला, विपिनीं रम्य केवडा दरवळला;  
पारिजातही बघतां भामारोष मनींचा मावळला !

सुंदर परडी धेउनि हातीं पुरोपकंठीं शुद्धमती  
सुंदरबाला या फुलमाला रम्य फुलें—पत्री खुडती.

देवदर्शना निघती ललना, हर्ष माइना हृदयांत,  
वदनीं त्यांच्या वाचुनि घ्यावें श्रावणमहिन्याचें गीत.

\* \* \*

### ३ : तारकांचें गाणें

कुणि नाहीं ग, कुणि नाहीं  
शांति दाटली चोहिकडे,  
लाजत लाजत,  
खेळ गडे, खेळूं काहीं,

सुंदरतेला नटवून,  
प्रेमाच्या वसतीकरितां  
दिव्य सुरांनीं  
विश्वाला निजवायाला

आम्हांला पाहत बाई.  
या ग, आतां पुढें पुढें.  
हळूच हांसत,  
कोणीही पाहत नाहीं.

कोमलतेला खुणवून  
जगदंतर फुलवूं आतां,  
गीतें गाउनि  
वाच्याचा बनवूं झोला.

फेकुनि घा इकडेतिकडे  
या निर्मल अवकाशांत  
दिव्यमोहिनी  
विश्वाला वत्सलतेनें

सरितांच्या लहरींवरतीं  
अर्धोन्मीलित फुलयोनी  
कविहृदयांत  
जाउनिया खेळूं आतां

एखादी तरुणी रमणी  
लज्जामूढा भीरुच ती  
तिच्याच नयनीं  
धीट तिला बनवा बाई;

सुखस्वप्नांनीं गुंगवुनी  
आशा ज्या त्यांच्या चित्तीं,  
दयितचिंतनीं  
दिवसां ही झुरली वाला,

अनेक असले खेळ करूं  
सोडुनियां अपुले श्वास  
प्रभातकाळीं  
होउनिया आपण राहूं;

थोडेसे दंवविंदु गडे,  
प्रेमाचें पेरूं शेत,  
सर्वें गुंगुनी  
प्रेमाचें गाऊं गाणें.

नाचूं या निर्भयचित्तीं;  
लपूं चला कलिकांत कुणी;  
गरके घेत  
हीं गाणीं गातां गातां.

रमणाला आलिंगोनी  
शांकित जर झाली चित्तीं,  
कुणी विबुनी  
भुलवा ग रमणालाही.

पुण्यात्मे हसवा कोणी;  
त्याच रचा स्वप्नांवरतीं;  
विरहभावनीं;  
भेटूं घा स्वपती हिजला !

प्रेमाशा विश्वांत भरूं  
खेळवुं, नाचवुं उल्हास  
नामानिराळीं  
लोकांच्या मौजा पाहूं.



बालकवि

४ : पारवा

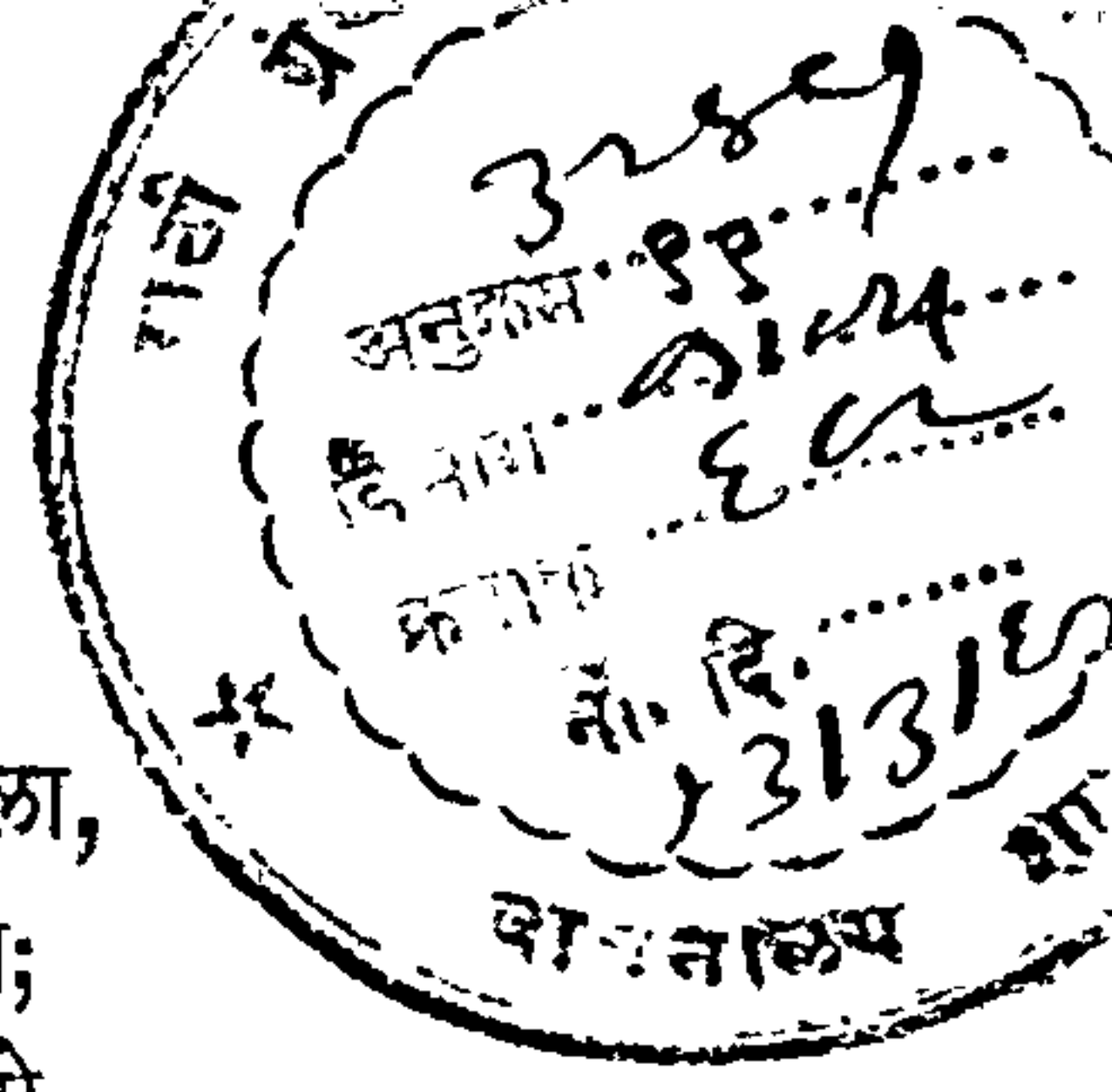
भित खचली, कलथून खांब गेला,  
जुनी पडकी उद्ध्वस्त धर्मशाला;  
तिच्या कौलारीं वसुनि पारवा तो  
खिन्न नीरस एकांतगीत गातो.

सूर्य मध्यान्हीं नभीं उभा राहे,  
घार मंडळ त्याभंवतिं घालिताहे,  
पक्षि पानांच्या शांत सावल्यांत  
सुखें साखरझोपेंत पेंगतात.

तुला नाहीं परि हौस उडायची,  
गोड हिरव्या झुबक्यांत दडायची,  
उष्ण झळया बाहेर तापतात,  
गीतनिद्रा तव आंत अखंडीत.

चित्त किंवा तव कोंवळ्या विकारें  
दुखतखुपतें का सांग, सांग बा रे !  
तुला कांहीं जगतांत नको मान ?  
गोड गावें मग भान हें कुठून ?

झोंप सौख्यानंदांत मानवाची  
पुरी क्षणही कोठून टिकायाची !  
दुःखनिद्रें निद्रिस्त बुद्धराज  
करुणगीतें घुमवीत जगीं आज.





दुःखनिद्रा ती आज तुला लागे;  
 तुझे जगही निद्रिस्त तुझ्यासंगे.  
 फिरे माझ्या जगतांत उष्ण वारें,  
 तुला ल्याचें भानही नसे बा रे !

\* \* \*

## ५ : मेघांचा कापूस

फिकट निळीनें रंगविलेला कापूस मेघांचा,  
 वरुनि कुणीं गुलजार फिरविला हात कुसुंब्याचा;

ल्यांतहि हंसली मंदपर्णे ती चंद्रकला राणी;  
 कडेकडेच्या मेघांवर ये मोल्यांचें पाणी.

इंद्रनिळाचा रंग बहरवी गिरिच्या अंगाला,  
 मधुन जळाची शुभ्र शोभते ती मोहनमाला;

चौवाजूला थाट दाटला हा हिरवाळीचा,  
 सृष्टिसतीनें साज घेतला पाउसकाळींचा

यशस्विनी सौभाग्यदेवता माता जगताची,  
 त्या अंबेची घटस्थापना आज वसायाची;

घोर घनघटा मूर्लिंगाला प्रक्षाळुनि गेल्या-

\* \* \*

६ : औदुंबर

ऐल तटावर पैल तटावर हिरवाळी घेउन  
निळासांवळा झरा वाहतो वेटावेटांतुन,

चार घरांचें गांव चिमुकलें पैल टेकडीकडे;  
शेतमळ्यांची दाट लागली हिरवी गरदी पुढें.

पायवाट पांढरी तयांतुनि अडवीतिडवी पडे;  
हिरव्या कुरणांमधुन चालली काळ्या डोहाकडे,

झांकळुनी जळ गोड काळिमा पसरी लाटांवर;  
पाय टाकुनी जळांत बसला असला औदुंबर.

\* \* \*

७ : उदासीनता

कोठुनि येते मला कळेना  
उदासीनता ही हृदयाला.  
काय बोंचतें तें समजेना  
हृदयाच्या अंतर्हृदयाला.

येथें नाहीं तेथें नाहीं,  
काय पाहिजे मिळवायाला ?  
कुणीकडे हा झुकतो वारा ?  
हांका मारी जीव कुणाला ?

मुक्या मनाचे मुके बोल हे  
घरे पाडिती पण हृदयाला.  
तीव्र वेदना करिती, परि ती  
दिव्य औषधी कसली त्याला !

★ ★ ★

# चरित्रविषयक, अर्थनिर्णायक व अवांतर टीपा

सूचना : ओळीचा क्रमांक पृष्ठावरील नसून त्या त्या कवितेंतील आहे.

## १. नारायण वामन टिळक ( १८६१-१९१९ )

टिळकांचे सुविद्य चिरंजीव श्री० देवदत्त टिळक यांनी अगदीं अलिकडे 'नारायण वामन टिळक : व्यक्तिदर्शन व काव्यविवेचन' हें पुस्तक लिहिलें आहे. त्यावरून टिळकांचा जन्म ६ डिसेंबर १८६१ ला जिल्हा रत्नागिरी, तालुका दापोली, मुक्काम करजगांव येथें आणि मृत्यु ९ मे १९१९ ला मुंबईस झाला, असें समजतें. टिळकांचें मूळ गांव चिखलगांव. परंतु त्यांचें बालपण करजगांवास आपल्या आजोळींच गेलें. त्यांचे आजे वेडेकर व आई जानकीबाई हीं साधुवृत्तीचीं माणसें होतीं. त्यांच्या पवित्र आचरणाचा व प्रेमळ वाणीचा कधींहि न पुसणारा संस्कार टिळकांच्या मनावर झाला होता. कोंकणच्या सुंदर निसर्गाच्या सान्निध्यांत त्यांनीं आपल्या बालवयांतला किती तरी काळ घालविला होता. या अनुकूल वातावरणाचा परिणाम म्हणजे टिळकांना लहानपणापासूनच प्राप्त झालेली काव्यस्फूर्ति होय. या स्फूर्तीच्या अंकुराचा पुढील ५८ वर्षांत हळूहळू विकास होत गेला.

टिळकांचे वडील वामनराव अतिशय कर्मठ व तापट होते. आपल्या स्वभावानें त्यांनीं जीवनांत हालअपेष्टा व दुःखें निर्माण करून ठेवलीं होतीं. त्यांच्या जाचांत टिळकांच्या आईचा १८७३ च्या सुमारास अंत झाला. आणि येथेंच टिळकांचें बालपण संपलें. वयाच्या अवघ्या बाराव्या वर्षी घरदार सांभाळण्याची जबाबदारी त्यांच्यावर येऊन पडली. यापुढें ते नाशकास आपल्या लहान भावंडांना घेऊन राहूं लागले. मात्र वाडिलांचा विचित्र स्वभाव आणि घरची व बाहेरची प्रतिकूल परिस्थिति यांची तीव्र

जाणीव झाल्यामुळे ते या वेळेपासूनच धीरे धीरे चिंतनशील प्रवृत्तीचे बनत चालले.

नाशकास टिळकांनी विद्याभ्यासास आरंभ केला. गणेशशास्त्री लेले हे त्या काळचे व्युत्पन्न पंडित व नांवाजलेले कवि होते. त्यांच्यापार्शी टिळकांनी संस्कृत साहित्यशास्त्राचें व काव्याचें परिशीलन केलें. तें त्यांच्या काव्य-शक्तीस उपकारक झालें. पुढें त्यांनीं घरींच इंग्रजी भाषेचा अभ्यास केला. १८७८ सालीं ते नाशिक हायस्कूलमध्ये इंग्रजी चौथीत दाखल झाले. आणि पुढें दोन वर्षांनीं म्हणजे २५ जुलै १८८० ला सहाव्या वर्गात असतांनाच त्यांनीं शिक्षण सोडलें. त्यांचें शालेय शिक्षण लौकिक दृष्टीनें अल्प असलें, तरी संस्कृत, मराठी व इंग्रजी या तिन्ही भाषांवर त्यांचें प्रभुत्व होतें. या तिन्ही भाषांतून ते समयस्फूर्त वक्तृत्व करीत आणि पारितोषिकें मिळवीत. या वक्तृत्वगुणामुळेच त्यांच्या कांहीं कविता प्रभावोत्पादक उतरल्या आहेत.

१८८० सालीं टिळकांचा मनूताई गोखल्यांशीं जलालपुरास विवाह झाला. विवाहानंतर मनूताई गोखले या लक्ष्मीबाई टिळक झाल्या. 'माझे मला द्या', 'माझी भार्या', 'सारथी' इत्यादि कवितांत टिळकांचें आपल्या पत्नीवरील निःसीम प्रेम प्रकट झालें आहे.

यापुढला पंधरा वर्षांचा म्हणजे १८८० पर्यंतचा काळ टिळकांच्या जीवनांत अत्यंत अस्थिरतेचा व असंतोषाचा गेला. मातेच्या मृत्यूनंतर टिळक अंतर्मुख झाल्याचा उल्लेख मागें आलाच आहे. वाढत्या वयाबरोबर ते धर्म, तत्त्वज्ञान, आचार, विचार व व्यवहार यांविषयीं अत्यंत आस्थेनें व सूक्ष्मतेनें चिंतन करूं लागले. सोवळेंओवळें, स्पृश्यास्पृश्यता, जातिभेद इत्यादिकांसंबंधींचे त्या काळच्या मानानें पुढारलेले वाटणारे विचार ते उघड उघड प्रतिपादन करूं लागले. या अवधीत त्यांनीं निरनिराळ्या धर्मांचा तौलनिक अभ्यास केला. नव्यानेंच थाटलेल्या संसाराच्या सोयीसाठीं ते द्वारका, धामक, पुणें, मुंबई, नागपूर, वणी, राजनांदगांव इत्यादि ठिकाणीं हिंडले. त्यांनीं तीन वेगवेगळ्या ठिकाणीं तीन शाळा काढल्या, कांहीं दिवस चालवल्या आणि त्या शेवटीं दुसऱ्यांना सुपूर्त केल्या. कांहीं काळ त्यांनीं कथाकीर्तनें व योगसाधनेंही केलीं. १८८३



पासून १८९३ पर्यंत ते नागपुरांत श्रीमंत अप्पासाहेब बूटी यांच्या चिरं-  
जीवांचे शिक्षक होते. या काळांत त्यांनी 'काव्यकुसुमांजलि', 'विविधविषय-  
तरंगिणी' आणि 'ऋषि' हीं मासिकें कांहीं दिवस काढून पुढें बंद केलीं. निर-  
निराळी नाटकें व काव्यें लिहिलीं. गोल्डस्मिथच्या 'डेझर्टेड व्हिलेज'चें 'माझा  
ओसाड पडलेला गांव' हें भाषांतर आणि पुढें विशेष प्रासिद्धि पावलेलीं  
'माझी भार्या' व 'वापाचे अश्रु' हीं काव्यें याच अवधींतलीं आहेत. पुढें  
१८९३ च्या सुमारास राजनांदगांवास जात असतांना आगगाडींत  
टिळकांची एका युरोपियन मिशनऱ्याशीं गांठ पडली. सुरुवातीस वाङ्मय,  
मग संस्कृत वाङ्मय आणि शेवटीं धर्म यांविषयीं त्या दोघांचें बोलणें झालें.  
तें होत असतांना आपल्या आजपर्यंतच्या अभ्यासाचें फल म्हणून टिळकांनीं  
त्या मिशनऱ्यापुढें आपल्या मनांतील नवधर्माची रूपरेषा मांडून दाखवली.  
यावर त्यानें न्यू टेस्टामेंटमधील कांहीं भागांवर खुणा करून त्याची एक  
प्रत टिळकांना भेट दिली. यानंतर टिळक दोन वर्षेपर्यंत ख्रिस्ती धर्माचा  
विचार करीत होते. शेवटीं धर्मांतर करण्याचा त्यांनीं निश्चय केला.  
आणि १० फेब्रुवारी १८९५ ला मुंबईस अमेरिकन चर्चमध्ये दुपारीं  
४॥ वाजतां बाप्तिस्मा घेतला.

टिळकांना धर्म या विषयाची स्वभावतःच आवड व ओढ होती. सर्व  
दृष्टींनीं समाधान देईल अशा धर्माच्या शोधांत त्यांचा आत्मा सतत पंथरा  
वर्षे तळमळ तळमळ करीत होता. अखेरीला ख्रिस्ताच्या पुण्यपावन  
चरित्रांत त्याला शांति व समाधान यांचा आढळ झाला. टिळकांनीं  
बाप्तिस्मा घेतला, तरी त्यांच्या पत्नी व चिरंजीव हीं दोघेहि हिंदुधर्मांतच  
होतीं. पुढें पांच वर्षांनीं त्या दोघांनींहि विधिपूर्वक बाप्तिस्मा घेतला.  
धर्मांतरानंतर टिळकांना जुन्या धर्मातील विरोधकांचा आणि नवीन  
धर्मातील शिष्ट दांभिकांचा बराच त्रास झाला. परंतु ते सच्चरित्र, सश्रद्ध  
व आशावादी असल्यामुळें त्यांनीं तो सौजन्यानें सहन केला. यानंतर ते  
अनेक वर्षे नगरच्या मिशनमध्ये मुख्य धर्मोपदेशक होते. मृत्यूपूर्वीं दोन  
वर्षे ते सातारच्या मिशनमध्ये जाऊन राहिले होते.

टिळक धर्मानें ख्रिस्ती होते खरे; पण देश, संस्कृति, भाषा आणि  
वाङ्मय या दृष्टींनीं ते हिंदूच होते. १९१५ सालीं मुंबईस भरलेल्या



साहित्य संमेलनाच्या अधिवेशनांत त्यांनी ' धर्मांतर म्हणजे देशांतर नव्हे ' अशी घोषणा केली होती. हिंदी ख्रिस्ती समाजाचे आचारविचार शुद्ध राहावेत आणि भाषा विकृत होऊं नये, यासाठी त्यांनी पराकाष्ठेचे प्रयत्न केले.

टिळक समाजाभिमुख होते. १९०७ सालीं जळगांवास जें पहिलें कविसंमेलन झालें, त्याच्यामागें टिळकांची प्रेरणा होती. शारदा-प्रसादन मंडळाचे ते सदस्य होते. या मंडळाच्या वतीनें प्रसिद्ध झालेल्या ' अभिनव काव्यमाले 'च्या दुसऱ्या भागाचे तेच संपादक होते. १९१५ सालीं मुंबईस जी प्रांतिक परिषद झाली तिच्यांत त्यांनीं भाग घेतला होता. त्या सालच्या नाट्यसंमेलनाचे ते अध्यक्ष होते.

केशवसुत, दत्त व बालकवि या तिघां प्रमुख आधुनिक कवींना कविता-लेखनार्थ टिळकांनीं उत्तेजन दिलें होतें. बालकवि तर कांहीं काळ त्यांच्या मुलाप्रमाणेंच त्यांच्या घरीं वाढले होते.

टिळक जसे कवि तसेच तत्त्वज्ञ होते. त्यांच्यापार्शीं भावनेच्या आवेगा-सरशीं उसळी घेणारें हृदय जसें होतें, तसेंच त्याला आटोपणारें विचारशील मस्तिष्कहि होतें. पन्नास-साठ वर्षांपूर्वीं समाजाच्या मनावर धर्माची घट्ट पकड असतांना ज्या टिळकांनीं केवळ व्यक्तिगत श्रद्धा व विश्वास यांच्या बळावर धर्मांतर केलें, त्यांच्या ठिकाणीं बंडखोराचा आवेश किंवा त्वेष नव्हता, हें म्हणण्यांत काय अर्थ आहे ? टिळकांना बंड हें केवळ बंड म्हणून प्रिय नव्हतें. जुन्या धर्मपरंपरेंत शिरलेल्या कर्मठपणाच्या आणि रूढीच्या जाचाची त्यांना तीव्र जाणीव होती. तो जाच त्यांना असह्य झाला होता. ख्रिस्ताच्या चरित्रांत त्यांना खऱ्या धर्माचीं लक्षणें दृष्टिगोचर झालीं आणि म्हणून पूर्ण विचार केल्यावर त्यांनीं त्याचें अनुयायित्व पत्करलें. त्यांत मनोधैर्य नव्हतें, असें कसें बरें म्हणतां येईल ? आणि या ख्रिस्त-प्रणीत धर्मांत आणि आपल्या संतमतांत तरी काय फरक आहे ? तुकाराम हा टिळकांचा अत्यंत आवडता कवि होता. त्याच्या अभंगांच्या घाटणी-वरच त्यांनीं आपली ' अभंगांजलि ' रचली आहे. तिचें मूळ व मर्म टिळकांच्या या ख्रिस्तप्रणीत किंवा आपल्या संतप्रणीत भक्तिमार्गाच्या आवडींत आहे.

वास्तविक ख्रिस्तदेवांचा अवतार हा आपल्या पूर्वेकडील आशियांत झालेला. परंतु त्यांच्या मताचा प्रसार पश्चिमेकडील युरोपांत झाला आणि तिकडील ग्रेट ब्रिटनचा परतंत्र भारतावर ताबा असल्यामुळे ख्रिस्ती मनुष्यास देशप्रेम, भाषाप्रेम अथवा परंपराप्रेम असणे शक्य नाही, असा आपला अपसमज होता. टिळकांच्या बाबतीत असा संशय घेणे अवास्तव आणि अनाठायी आहे. १९१२ च्या दिल्ली दरबारावर टिळकांची जशी 'राजनिष्ठा' ही कविता आहे, तशाच चंद्रशेखरादि कवींच्याहि कविता आहेत. त्यांच्या देशप्रेमाबाबत जर शंका नाही, तर मग ती टिळकांबाबत कां असावी ! केवळ ते धर्मातरित म्हणून जर ती असेल, तर ती अन्याय्य म्हणावी लागेल. रानडे, गोखले, मेहेता हे नेमस्ताग्रणीहि एका अर्थाने राजनिष्ठ होते. पण म्हणून त्यांची देशभक्ति वेगडी होती असें मात्र नाही.

टिळकांना 'फुलांमुलांचे कवि' म्हणतात याचें कारण त्यांनीं त्या विषयांवर विपुल कविता लिहिली आहे. खरें पाहिलें तर टिळकांनीं मुलांसाठीं कविता लिहिली नसून मुलांविषयीं लिहिली आहे. तिचे वाचक बाल नसून प्रौढ आहेत. पुन्हा तिचा संबंध लहान मुलांच्या मनोविश्लेषणापेक्षां वात्सल्याच्या भावनेशीं अधिक निकटचा आहे. फूल हें प्रसन्नता, पावनता, पुण्यकारकता, प्रेमळपणा इत्यादि गुणांचें प्रतीक. निसर्गाशीं त्याचा मूल या नात्यानें संबंध. या भव्य आणि दिव्य निसर्गांत परमेश्वराचा साक्षात्कार होतो, ही दृढ भावना. परमेश्वराचा आणि धर्माचा प्रत्यक्ष परस्पर संबंध. या धर्माविषयीं टिळकांना जात्याच ओढ. तेव्हां फुलांसंबंधीं त्यांची विपुल कविता असावी आणि ती लोकप्रिय व्हावी, यांत नवल तें कोणतें ? ईश्वर, निसर्ग, धर्म इत्यादिकांचें तत्त्वज्ञानाशीं निकटचें नातें आहे. तत्त्वज्ञान मुळांतच गहन व निरस असतें. तें सुगम व सरस करावयाचें तर त्यास काव्याची जोड हवी. टिळकांनीं ती तशी दिल्यामुळेच त्यांचें 'वनवासी फूल' हें तात्त्विक खंडकाव्य सरस व रमणीय झालें आहे. वर्डस्वर्थ व इमर्सन हे टिळकांचे आवडते कवि व तत्त्वज्ञ होते. ते आपल्या लेखनांत ज्याप्रमाणें मधून मधून प्रचारकाची, शिक्षकाची व उपदेशकाची भूमिका वठवतात, त्याप्रमाणेंच टिळकांहि मधूनमधून उपदेश करतांना दिसतात.

टिळकांच्या कवितेचा एक फार मोठा विशेष म्हणजे तिची प्रवृत्ति-परता. तिला स्वभावतःच ईशनिष्ठा व समाजसेवा यांप्रमाणेच गृहस्थाश्रम प्रिय आहे. टिळकांची स्त्रीकडे पाहण्याची दृष्टि निर्मळ व निकोप आहे. त्यांत प्रेम आहे, पण काम नाही. स्त्री ही सहधर्मिणी आहे, ही उदार व उदात्त कल्पना त्यांच्या स्त्रीविषयक प्रत्येक कवितेत अनुस्यूत झाली आहे.

टिळकांची १८९५ पूर्वीची कविता जुन्या वळणाची आहे. तिची रचना प्रदीर्घ आणि भाषा संस्कृतप्रचुर आहे. यापुढील काळांत टिळकांनी इंग्रजी कवितेचे अध्ययन केले. त्यामुळे नंतरची कविता नव्या वळणाची आहे. तिच्यांत क्वचित् अधूनमधून जुन्या रूपांचे अवशेष आढळतात. परंतु एकंदर रचना प्रसन्न व प्रसादपूर्ण आहे. त्यांची वाणी प्रेमळ आहे. आणि अर्थाच्या अनुरोधाने ती वाटचाल करतांना दृष्टीस पडते. चमत्कृतिपूर्ण किचकट कल्पना, अबोध गूढाशय आणि पांडित्य-प्राचुर्य या अवगुणांचे तिला वावडे आहे. यामुळे तो वाचतां वाचतांच अर्थ सहज समजतो आणि विषय मनावर ठसतो.

### टिळकांचे काव्यवाङ्मय

१. टिळकांची कविता. २ अमंगांजलि. ३ बालोद्यान. ४ भजन-संग्रह. ५ खिस्तायन ( पहिले ११ अध्याय ). ६ भक्तिनिरंजन ( टिळकांच्या कवितांची इंग्रजी भाषांतरें ).

#### १. कुणास्तव कुणीतरी :

वृत्त : पृथ्वी.

ही कविता मूळ सप्टेंबर १८९९ च्या ' सुविचारसमागमांत ' आली होती. तिच्यांत नंतर टिळकांनी किंचित् शाब्दिक फेरफार केले आहेत. ते अर्थबोधाच्या दृष्टीने उचित असेच आहेत. या कवितेला एका इंग्रजी कवितेचा आधार आहे. कवि हा मूळ कवितेतील भावनेशीं समरस झाल्यामुळे त्याने केवळ त्या कवितेचा आधार मात्र घेतला. तिचे अक्षरशः भाषांतर करण्याच्या मानगडींत तो पडला नाही. त्यामुळेच ही कविता उत्कृष्ट व उत्कट उतरली आहे. एकाद्या तेवणाच्या निरांजनावर

दुसरें एकादें निरांजन उजळावें आणि मग जसें त्या दोघांच्या स्निग्धरुचिर कांतीकडे पाहिलें म्हणजे त्यांपैकीं अगोदरचें कोणतें व नंतरचें कोणतें असें कोडें पडतें, तसेंच या कवितेच्या वावतीत झालें आहे.

प्रथमपुरुषी भाषा न योजतां ' कुणास्तव कुणीतरी ' अशी तृतीयपुरुषी अप्रत्यक्ष भाषा योजल्यामुळेंच कवितेचें हृदयंगमत्व वृद्धिंगत झालें आहे.

- पृ० १ ओ० १ तरुलतांशिं वारा झुझें - यांतील व्यंजना मोठी बहारीची आहे. तरुलता हे शब्द पतिपत्नीचे आणि वारा हा शब्द संसारांतील संकटाचा व्यंजक आहे.
- ... .. ३ भयानकाचि-भयानकरस मूर्त होणें.
- ... .. ११ महीधर-झाडें.
- .... .. १३ घनप्रसर-ढगाचा पसारा. १३ व १४ या दोन ओळींतील विरोधामुळें आणि १४ व १५ या दोन ओळींतील चंद्र व चंद्रकांत हे शब्द पतिपत्नीचे व्यंजक असल्यामुळें हा चवथा संपूर्ण श्लोकच सरसरमणीय झाला आहे.
- ...२ ... २१ पत्नीच्या मधुर भाषणांवर तोंडीं लावण्याच्या पदार्थांचा आरोप केला आहे. आणि जेवण जरी साधेंसुधें गरिबीचें असलें, तरी रुचकर व स्वादिष्ट आहे, असें सूचित केलें आहे.
- ... .. २४ प्रसन्नेक्षणीं-प्रसन्न + ईक्षणीं-हंसच्या डोळ्यांनीं.
- ... .. २५ या व पुढच्या २६ व्या ओळींत पतिपत्नींवर अनुक्रमें निर्झर व निर्झरीचा आरोप केला असून त्यापासून उत्पन्न होणारा जो भोंवरा त्याचें साम्य मुलाशीं दाखविलें आहे. ' भोंवऱ्या 'वर श्लेष आहे. निर्झर व निर्झरी यांच्या मीलनानें उत्पन्न होणारा एक पाण्यांतला भोंवरा आणि लहान मुलांच्या खेळण्यांतली भोंवऱ्याप्रमाणें घरभर गिरगिर फिरणारा मुलगा म्हणजे जणूं काहीं पतिपत्नींचा खेळण्याचा भोंवराच.



पृ० २ ओ० २८ अपसारुनि-दूर करून. या व पुढील २९ व्या ओळींतील तम, ऊन व पाऊस हे शब्द संसारांतील अडीअडचणी व सुखदुःखें यांचे व्यंजक आहेत.

... .. ३१ ज्या परमेश्वराच्या हातीं ऊन व पाऊसपाणी आहेत, त्याचें स्तवन करील.

## २. केवढें हें क्रौर्य !

वृत्त : पृथ्वी. शेवटचा श्लोक, वृत्त : वसंततिलका.

ही कविता मूळ ऑगस्ट १९०१ च्या 'काव्यरत्नावली'त आली होती. तिच्यावर मराठी शीर्षकाबरोबर 'How Very Cruel' हें इंग्रजी शीर्षक होतें. कवितेवर एक लांबलचक टीप होती. ती टिळकांच्या चरित्राच्या इतिहासाच्या दृष्टीने महत्त्वाची आहे.

[ टीप : हा एका पक्षिणीचा अल्प इतिहास वाचून पाहा आणि मग योग्य वाटल्यास देवानें निर्मिलेल्या ह्या सहजमनोहर, स्वभावरसिक जिवंत फुलांचा म्हणजे पक्षिकुलाचा केवळ खेळ म्हणून, किंवा आपल्या जिभल्यांचे लाड पुरवावे म्हणून शेवटीं नुसत्या आपल्या टोप्या सजविण्यासाठीं नाश करावासा वाटल्यास खुशाल करा. ज्याच्या दर्शनानें प्रत्यक्ष प्रेताच्या मुखावर प्रसन्नता दिसूं लागावयाची, ज्याच्या आलापांनीं दगडाला देखील काव्यस्फूर्ति व्हावयाची, ज्याच्या लीला पाहून मन मारून पृथ्वीवर कोठें तरी पडलेल्या जीवन्मुक्ताला वात्सल्यानें वेड लागावयाचें, त्या पक्ष्याला ठार करायला धावणाऱ्यांस काय म्हणावें, हें आम्हांला समजत नाही. ]

या कवितेंत योजलेलीं दोन्ही वृत्तें करुणोदात्त विषयास पोषक अशींच आहेत. अशाच एका करुणकोमल प्रसंगाच्या दर्शनानें आदिकवीच्या मुखांतून

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीसमाः ।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

हा अनुष्टुप् बाहेर पडला होता.

पृ० २ ओ० २ स्तिमित दृष्टि-ओली आणि कांपणारी नजर.

- पृ० २ ओ० ८ प्रभु पिता अनाथा सदा !—सहजगत्या साधलेला व त्रिकालाबाधित सत्य असलेला हा एक अर्थांतर-न्यास आहे.
- ... ३ ... १० आणि यापुढील १३ ते १६ ओळीत कवीने पक्षिणीच्या मुखाने आणि २३ व २४ ओळीत स्वतःच्या मुखाने मनुष्याच्या हिंसक वृत्तीवर व क्रूरपणावर औपरोधिक टीका केली आहे. ती अत्यंत परिणामकारक आहे. येथे व्याजस्तुति आहे.
- ... ... १९ 'माझ्या कुशीत ऊब नाहीच, तेव्हा माझ्या पुढ्यांत निजण्याचा प्रयत्न करू नका' येथे काव्याच्या उत्कटतेची कमाल झाली आहे.
- ... ... २२ द्विजा—पक्षिणी.
- ... ... २३ उत्पल—निळे कमल. पांखरुं निळ्या कमळाप्रमाणेच कोमल व लोभस असल्यामुळे त्यावर हा आरोप केला आहे. पुढे २४ मध्ये व्याजस्तुति आहे.
- ... ... २५ ते २८ मध्ये स्वभावोक्ति आहे. मृत पक्षिणीचे हे शब्दांनी घेतलेले छायाचित्र हुबेहूब आहे.

### ३. बोंबाबोंब :

चाल फकिरांच्या खड्या सवालांसारखी आहे. पहिले तीन चरण अंजनीगीताप्रमाणे १६।१६।१६ मात्रांचे आहेत. मात्र तिसऱ्या चरणांत ८।८ मात्रांचे दोन भाग करून यमक साधले आहे. चवथ्या चरणांत १० ऐवजी ११ मात्रा आहेत. शेवटच्या मात्रेचा उच्चार निसटता-पुसटता म्हणजे जवळजवळ अश्राव्य असा आहे.

ही कविता प्रथम जानेवारी १९१४ च्या 'मनोरंजनां'त आली होती. होळीच्या दिवशी देशाच्या तत्कालीन स्थितीविषयी एका गृहस्थाशी चर्चा चालू असतांना टिळकांना ही कविता स्फुरली. या कवितेतील 'बोंबाबोंब' हा शब्द अशिष्ट व ग्राम्य आहे, म्हणून त्यावर कै. अ. व. कोल्हटकर यांनी 'संदेश' या आपल्या दैनिकांत वारंवार टीका केली होती. मला श्री. आनंदराव टेकाडे सांगत होते की, ही कविता प्रसिद्ध झाली त्याच सुमारास



टिळक नागपुरास रॉबर्टसन् हॉस्टेलमध्ये आले होते. त्यांना कै. जयकृष्ण केशव उपाध्ये व आनंदराव टेकाडे भेटण्यास गेले होते. भेटीत उपाध्यांनी 'बॉंबाबॉंब' हा शब्द अश्लील म्हणून त्यावर आक्षेप घेतला. यावर टिळकांनी उत्तर दिले की, त्या ठिकाणी त्याच्याइतका जोरदार व समर्पक शब्द दुसरा कोणताच नाही. बॉंबाबॉंब म्हणजे अकारण आरडाओरडा.

- पृ० ४ ओ० ३ उघडीले ना...नयना ?-राष्ट्रीय जागृति झाली ना ?  
 ... ४ व ५ पूर्वी जरी अनेक घोडचुका घडल्या, तरी आतां त्या सुधारण्याची शक्ति आहे.  
 ... ९ अमोघ...अनुभूति-हे भूतकाळांतले अनुभव भविष्य काळांत अचूक फळ देणारे आहेत. त्याग केला तो हितार्थच.  
 .... ११ व १२ देशांत निरनिराळे गट व निरनिराळीं मते असलीं तरी स्वातंत्र्यप्राप्ति हेंच सर्वांचें अखेरचें ध्येय आहे.  
 ... १४ तारा...लागल्या-आशागत वाटूं लागलें.  
 ... १५ व १६ अनेक परचक्रें आलीं व गेलीं. पण हा देश आपल्या स्वत्वानें जिवंत राहिला. याचें ध्येय जरी दूर असलें, तरी याच्या अंगीं तें प्राप्त करण्याचें सामर्थ्य आहे.  
 पृ० ४ ओ० १७ बकवा-विनाकारण बडबड.  
 १९ व २० यांत टिळकांचा आशावाद प्रकट झाला आहे.

#### ४. महारथी :

वृत्त : पृथ्वी.

संसाराला रथाची व पतिपत्नींना त्याच्या दोन चाकांची दिलेली उपमा नेहमीं ऐकूं येते. परंतु या कवितेंत टिळकांनीं पराक्रम करणाऱ्या पुरुषाला महारथी आणि तो पराक्रम करीत असतांना त्याला संकटांचा व अडी-अडचणींचा त्रास होऊं नये म्हणून त्या टाळण्याचा प्रयत्न करणाऱ्या त्याच्या स्त्रीला सारथी म्हटलें आहे. संसाराला दिलेली रथाची उपमा

जुनीपुराणी असली, तरी पतिपत्नींचें महारथी व सारथी यांच्याशीं दाखविलेलें साम्य नवीन व समुचित आहे. हीच उपमा नाट्याचार्य खाडिलकरांनीं ' पुरुष धनुर्धर संसाररथा सारथिसम भार्या ' या चरणांत गोविली आहे. मूळ ही कविता सप्टेंबर १९०७ च्या 'मनोरंजनां'त प्रसिद्ध झाली होती. टिळकांच्या कवितेच्या प्रस्तावनेंत न. चिं. केळकर म्हणतात त्याप्रमाणें ' स्त्री हा महारथी व पति हा तिचा सारथी, या उपमेत कल्पनांची किंचित् उलटापालट झालेली दिसते ' असे त्या मूळ कवितेंत पाठ होते. परंतु पुढें टिळकांनीं ते पाठ बदलल्यामुळें ' पति हा महारथी व स्त्री हा सारथी ' असा योग्य बदल घडून आला, हें केळकरांच्या लक्षांत आलें नसावें असें वाटतें. टिळकांची मूळ कविता अशी :—

( फक्त पाठभेद देत आहे. )

- ओ० २ अहर्निश मला पहा, परम दुःख हो विस्मय  
 ,, ३ पुढें रथ विलोल गे !  
 ,, ४ असून मुनिसारखी नच अशी बसोनी रहा !  
 ,, ५ सदैव तव सारथी तुज जपेन मी सुंदरी !  
 ,, ९ पहा ' इह ' ' परत ' हीं उभय रम्य चक्रे सती  
 ,, ११ सदा तव अधीन गे ! मज समान हा सारथी  
 ,, १२ असून मग कां बरें ? तव भिते कशाला मती ?

पुस्तकांतील पाठांत टिळकांनीं स्त्रीविषयक संबोधनें गाळलीं असून ४ थ्या ओळींत ' मुनिसारखा ' व १२ व्या ओळींत ' त्यजून भय हो पुढें ! धर बघूं सुवीरा ! धृती ' असे बदल केले आहेत. ' सुवीरा ! ' या संबोधनानें हा उचित फेरफार सहज लक्षांत येईल. चौथा श्लोक मुळांत अजिबात नव्हता. तो सर्वस्वीं नवीन आहे. ' तुला कवि हें मृदु विशेषण लागल्यामुळें तूं भीरु झाल्यासारखा दिसतोस. कवि हा निष्क्रिय नसतो. तो कार्यकर्ता असतो. तें आपलें सत्यस्वरूप ओळख व कार्यास लाग ' असा त्याचा आशय आहे.

पृ० ५ ओ० ४ मुनि म्हणजे मौन धारण करणारा. तेव्हां मुनीप्रमाणें निवृत्त होऊन मुकाट्यानें बसूं नकोस, हा आशय.

... .. ६ या ओळींत संसारांतील सुखदुःख सूचित केलीं आहेत.

पृ० ५ ओ० ७ व ८ पत्नीच्या उद्योगितेवर सबल अश्विनीचा म्हणजे घोडीचा आरोप केला आहे.

... .. ९ इह व परलोक म्हणजे संसाराच्या रथार्ची दोन चाकें.

**४. माझ्या जन्मभूमीचें नांव :**

वृत्त : मंदारमाला.

मूळ ही कविता ऑगस्ट १९०९च्या ' मनोरंजनां 'त होती तेवढीच घेतली आहे. संग्रहांतील नंतरचें शेवटचें कडवें घेतलें नाहीं. कवितेंतील उदात्त विषयाला साजेसेच धीरगंभीर वृत्त आहे.

पृ० ६ ओ० १ सृष्टीचें अहोभाग्य कीं, तुझा भार तिला वाहण्यास मिळत आहे. भारताचा सृष्टीत समावेश आहे. त्यामुळें सृष्टि धन्यत्व पावली आहे. ' रूपसंपन्न ' या शब्दानें भारताच्या सुंदर आकृतीची कल्पना सूचित केली आहे.

पृ० ६ ओ० २ ' कामधेनू ', ' कल्पवल्ली ' या शब्दांनीं भारताची संपन्नता, समृद्धि व कोणाचीहि मनोकामना पूर्ण करण्याची शक्ति या गोष्टी सूचित केल्या आहेत.

**सदा**.....**तुला**-शक, बर्वर, हूण, पठाण, मोगल, इंग्रज इत्यादिकांना तुझा अभिलाष उत्पन्न झाला. यांत टिळकांनीं हिंदुस्थानावरील परकीय आक्रमणांचा इतिहास आणला आहे.

पृ० ६ ओ० ४ ' मीं तरी कोठें न पाहिलें ' असा अन्वय.

... .. ५ ते ७ यांत टिळकांचा आर्यसंस्कृतीचा अभिमान व आपलेपणा स्पष्ट झाला आहे.

... .. ९ व १० यांत टिळकांची शालीनता व्यक्त झाली आहे.

... .. ११ हिंदुस्थानाकडून साऱ्या जगाला शांतीचे, प्रीतीचे, सुखाचे व समाधानाचे धडे मिळतील, अशी टिळकांची दृढ धारणा होती.

... .. १३ ते १५ आपला जन्म हिंदुस्थानांत झाला, याबद्दल कवि स्वतःस अतिशय भाग्यशाली समजतो.

## ५ लोकमित्र :

चाल : अजि म्यां ब्रह्म पाहिलें.

जुलै १९२१ च्या 'मनोरंजना'च्या 'मित्र' अंकांत या कवितेवर J. F. Edwards या मिशनरी गृहस्थाची एक टीप आहे : [ थोड्या वर्षांपूर्वी कारीनाथपंत मित्र व टिळक आपल्या कांहीं मित्रांसह लोणावळ्यास गेले असतां मित्रांच्या अंगचे थोर गुण व त्यांच्या संगतींत असणारांची उन्नति घडवून आणणारी त्यांची मैत्री यामुळें कवि टिळक यांना स्फूर्ति होऊन त्यांनीं हें सुंदर काव्य लिहिलें. ]

पृ० ७ ओ० ४ जी जीवीं.....प्रीति-ज्यांना सत्य हें जीवाप्रमाणें प्रिय आहे.

... .. ५ भूति म्हणजे संपत्ति, ऐश्वर्य, विभूतिमत्त्व.

... .. ९ जनपरिचर्या-लोकसेवा, समाजसेवा.

... .... १० हेंच तत्त्वज्ञान टिळकांनीं 'वनवासी फुलां' त मांडलें आहे.

## २. लक्ष्मीबाई टिळक ( १८७०-१९३७ )

लक्ष्मीबाई या नारायण वामन टिळक यांच्या पत्नी. त्यांचा जन्म १८७० मध्ये झाला. माहेरचें त्यांचें नांव मनूताई गोखले. वयाच्या दहाव्या वर्षी म्हणजे १८८० सालीं जलालपुरास त्यांचा टिळकांशीं विवाह झाला. या वेळीं त्यांना अक्षरओळखहि नव्हती. मग शालेय शिक्षण कुठलें ? १८९२ च्या सुमारास त्यांना प्रथम अक्षरओळख झाली. टिळकांच्या पूर्वायुष्यांतील लहरी व चंचल स्वभावामुळें त्यांना संसारांत स्थैर्य अथवा स्वास्थ्य मिळालें नाहीं. पुढें १८९४ मध्ये टिळक धर्मांतर करणार अशी निश्चयात्मक वार्ता ज्या वेळीं त्यांच्या कानीं पडली, त्या वेळीं त्यांची मनःस्थिति अगतिक व कुंठित झाली. त्यांचें घर जुन्या वळणाचें होतें. त्या वेळचा हिंदुसमाजच मुळीं परंपराप्रिय व कर्मठ होता. १८९५ मध्ये टिळकांनीं जेव्हां खरोखरच बाप्तिस्मा घेतला, तेव्हां लक्ष्मीबाईची स्थिति एकाद्या जविन्मृताप्रमाणें झाली. परंतु उभयतां पतिपत्नींचें परस्परांवर



अलोट प्रेम होतें. पांच वर्षांच्या विरहानंतर १९०० मध्ये लक्ष्मीबाईंनी आपल्या मुलासह नव्या धर्माचा स्वीकार केला. अशा रीतीने टिळक पतिपत्नींचे दीर्घ विरहानंतर पुनर्मीलन झाले.

यापुढील आयुष्यांत मात्र त्यांना स्थैर्य व स्वास्थ्य यांचा लाभ झाला. लक्ष्मीबाईंची प्रतिभा आपल्या प्रेमळ पतीच्या सहवासांत पालवली होती. जळगांवास १९०७ मध्ये भरलेल्या कविसंमेलनास त्यांनी 'तुम्हि कवी, भिकारीण मी हो तुमच्या दारी' ही कविता पाठविली होती. तिचे कौतुक करतांना स्वतः टिळकांनी

‘ प्रसाद आहे, प्रतिभाहि आहे.  
प्रेमौघ गानांतुन नित्य वाहे ’

हे जे उदगार काढले होते, ते लक्ष्मीबाईंनी पुढे सार्थ करून दाखविले. लक्ष्मीबाईंना पाठविलेल्या एका पत्रांत टिळकांनी काव्यासंबंधी पुढील कल्पना मांडली आहे : “ काव्य म्हणजे काव्य. आधीं सौंदर्य व मग उपचार. सौंदर्य असले म्हणजे सारे आले. ” ही कल्पना लक्ष्मीबाईंच्या कवितेला तंतोतंत लागू पडते.

लक्ष्मीबाईंनी सुरुवातीस लिहिलेल्या कवितांवरून कदाचित् टिळकांचा सफाईचा हात फिरला असेल. परंतु त्यांत टिळकांच्या कर्तृत्वाचा अंश नव्हता हे त्यांनी टिळकांच्या पश्चात् कविता लिहिल्या, अपुऱ्या ख्रिस्तायनांत ६५ अध्यायांची भर घातली आणि ज्यांत जिवंत व जातिवंत काव्य आहे असे स्मृतिचित्रांचे चार भाग निर्माण केले, त्यांवरून स्पष्ट आहे. याशिवाय १९३३ च्या नाशिक कविसंमेलनाच्या स्वागताध्यक्ष म्हणून, १९३४ च्या नागपूरच्या ख्रिस्ती साहित्यसंमेलनाच्या अध्यक्ष म्हणून आणि १९३५ च्या स्वतःच्या सत्कारसमारंभाच्या उत्सवमूर्ति म्हणून त्यांनी जीं भाषणे केलीं, तीं त्यांच्या स्वतंत्र प्रज्ञेचीं द्योतक आहेत. लक्ष्मीबाईंच्या लेखनांत भावनांचा प्रामाणिकपणा, विचारांचा प्रांजलपणा आणि भाषेचा साधेपणा हे गुण आहेत. आणि त्यावर विनोदाचा शिडकावा असल्यामुळे एकंदर लेखन सरससुंदर झाले आहे.

## लक्ष्मीबाईंचें वाङ्मय

१. भरली घागर. २ ख्रिस्तायन ( ६५ अध्याय ). ३ स्मृतिचित्रे—  
चार भाग ( शेवटच्या भागाचीं पहिलीं कांहीं प्रकरणें ).

### १. कल्पना, विचार, शब्द :

जाति : बालानंद

कल्पना, विचार व शब्द या तीन वस्तु साहित्याच्या निर्मितीस आवश्यक आहेत. त्या परस्परांनुरूप असून त्यांचा एकजीव झाला म्हणजे सरस व सुंदर साहित्य निर्माण होतें. उलट क्लिष्ट व किचकट कल्पना, क्षुद्र व हलकेफुलके विचार आणि क्षुल्लक व निरर्थक शब्द यांची सांगड जुळली म्हणजे नीरस व रटाळ साहित्य उत्पन्न होतें. कल्पना व विचार हें जणूं एकादें जोडपें आहे आणि शब्द त्यांचें अपत्य आहे. अशा कल्पनेनें लक्ष्मीबाईंनीं ही तार्त्विक परंतु विनोदी कविता रचली आहे. कवितेच्या शेवटीं त्यांचा विनय व्यक्त झाला आहे.

### २. मी तुझी मावशी तुला न्यावया आलें :

जाति : भूपतिवैभव.

रोजच्या घरगुती प्रसंगावरून लक्ष्मीबाईंना हें गीत स्फुरलें आहे. यांत तीसचाळीस वर्षांपूर्वी आपल्या समाजांत रूढ असलेल्या बालविवाहाच्या चालीवर मार्मिक टीका आहे. पण ती हसत खेळत केली आहे. तिच्यांत समाजाला शिव्याशाप नाहीत. परंतु त्याला संताप येणार नाही अशा बेतानें त्याच्या दोषांवर बोट ठेवलें आहे.

पृ० ९ ओ० १ भरली घागर—यांत मुलीवर लहान वयांत टाकलेल्या जबाबदारीची सूचकता आहे.

शिरावर—हा शब्दहि भारी जबाबदारीचा सूचक आहे.

भरली घागर व वाळे यांतील विरोधामुळें सामाजिक व्यंगाचें स्वरूप विशेषत्वानें उघड झालें आहे.

... .. २ तूं उभी ?—हा प्रश्नहि सूचक आहे. म्हणजे या पोरवयांत तुझ्यामार्गे इतकीं कामें आहेत कीं, स्वस्थ बसावयालाहि तुला सवड नाही.



लागले.....डोळे ?-या प्रश्नांतहि सूचकता आहे. म्हणजे तूं माहेरच्या निरोपाची वाट पाहत आहेस.

... .. ३ व ४ या दोन ओळींत नादानुकारी शब्दांनीं मुलीच्या मनाची उत्कंठा अभिव्यक्त केली आहे.

पृ० ९ ओ० ५ आगगाडींत-माहेराहून कुणीतरी येईल हा ध्वनि आहे. व ६ या ओळींत आशा-निराशा यांच्या दोल्यावर झुलणाऱ्या मनःस्थितीचें शब्दचित्र आहे. एका घडीस दारावरून एखादा टांगा जातांना किंवा बाहेर कांहीं चाहूल ऐकूं आल्यास माहेराहून कुणी तरी आलें असावें, असा तिला भास होतो. पण दुसऱ्या घडीला कुणी नाही हें दिसतांच ती नाउमेद होते.

अशा वेळीं निराशा झालेल्या पण जात्याच सुंदर असणाऱ्या त्या मुलीवर मेघांतील चंद्राची उचित उत्प्रेक्षा केली आहे.

पृ० ९ ओ० ७, ८ व ९ या तीन ओळींच्या अंतःस्थांत सामाजिक दोषांचें दर्शन आहे.

गुरुजन म्हणजे घरांतील वडीलधारीं माणसें किंवा समाजांतील उपाध्यायवर्ग असाहि अर्थ घेतां येईल.

... .... १२ ते २० मध्ये पोरवयाच्या माहेरवासिणीच्या मनाचे पापुद्रे हळुवारपणें उलगडले आहेत. हें गीत सामाजिक टीका व मनोविश्लेषण या दोन्ही दृष्टींनीं अप्रतिम आहे.

### ३. कावळा :

छंद : मोठा अभंग.

प्रस्तुत कविता लहान मुलांसाठीं लिहिलेली असली, तरी तिच्यांत काव्यमय केलेलें तत्त्व प्रौढांनींहि लक्षांत घेण्याजोगें आहे. कविता संवादात्मक आहे.

सुरूपता व कुरूपता या गोष्टी ईश्वराधीन आहेत. तेव्हां मानवानें सुरूपतेचा गर्व करूं नये अथवा कुरूपतेला हसूं नये, हें तत्त्व या अभंगाच्या द्वारे

मांडलें आहे. कवयित्रीची कावळ्याकडे पाहण्याची दृष्टिहि निकोप व निर्मल आहे.

पृ० १० ओ. १ ते ४ यांत मुलांना सकाळीं उठण्याचा व देवाची प्रार्थना करण्याचा उपदेश केला आहे.

#### ४. धुंधुर्मासाची खिचडी :

जाति : चंद्रकांत.

एकाच कवितेंत निरनिराळ्या विषयांची भेसळ झाल्यामुळें लक्ष्मी-वाईनी या कवितेला ' धुंधुर्मासाची खिचडी ' हें नांव दिलें आहे. हा मूळ लांबलचक कवितेंतला एक लहान उतारा आहे.

वटवृक्षाचें पिंपरीवर प्रेम बसलें, असा प्रसंग आहे. त्याचें हें कल्पनापूर्ण आणि विनोदपूर्ण वर्णन आहे.

पृ० ११ ओ० २० काळा शिरजोर म्ह. बिंब्रा.

#### ३. केशवसुत ( १८६६-१९०५ )

केशवसुतांचें संपूर्ण नांव कृष्णाजी केशव दामले. त्यांचा जन्म जिल्हा रत्नागिरी, गांव मालगुंड येथें १५ मार्च १८६६ ला झाला. ' नैर्ऋत्ये-कडील वारा ' या कवितेंत त्यांनीं आपल्या जन्मग्रामाचा माल्यकूट असा आणि तेथील जगबुडी नदीचा जगदुद्धरा नदी असा उदात्तीकरण करून उल्लेख केला आहे. त्यांचे वडील केसोपंत हे रत्नागिरी जिल्ह्यामध्ये कोठें तरी तालुक्याच्या ठिकाणीं मराठी शाळेवर मास्तर असत. पेन्शन घेतल्यावर ते दापोली तालुक्यांतील वळणें या खेडेगांवीं राहूं लागले. केशवसुतांची ' एक खेडें ' ही कविता याच गांवावर असून ' सिंहावलोकन ' ही आत्मपर कविता त्यांनीं याच गांवीं रचल्याचा निर्देश आहे.

केशवसुतांचें मराठी सर्व शिक्षण रत्नागिरी जिल्ह्यांतील खेड या गांवीं झालें. १८८१ च्या सुमारास तें पूर्ण झालें. याच काळीं केशव गंगाधर चितळे यांच्या कन्येशीं त्यांचा विवाह झाला. १८८२ मध्ये केशवसुतांचे वडील बंधु श्रीधरपंत हे ग्रॅज्युएट होऊन नुकत्याच उघडलेल्या बडोदा कॉलेजांत संस्कृत व गणित या विषयांचे प्राध्यापक म्हणून नियुक्त झाले होते. तेव्हां केशवसुत व त्यांच्या पाठचे बंधु मोरोपंत हे पुढील इंग्रजी

शिक्षणासाठी बडोद्यास गेले. पण तेथे जाऊन त्यांना पुरतें एक वर्ष झालें न झालें तोंच त्यांचे वडील बंधु श्रीधरपंत विषमज्वरानें वारले. तेव्हां पुढील शिक्षणासाठी केशवसुत व मोरोपंत यांची रवानगी त्यांचे मातुल करंदीकर यांच्याकडे वध्यास करण्यांत आली. त्या वेळीं वध्यास शाळा नसल्यामुळे हे दोघे बंधु नागपुरांतील सिटी हायस्कूलांत दाखल झाले. हें वर्ष १८८३ होय. केशवसुतांस नागपुराचा उन्हाळा मानवला नाही. म्हणून ते पुढील विद्याभ्यासाकरितां पुढील साली पुण्यास न्यू इंग्लिश स्कूलमध्ये इंग्रजी चवथ्या वर्गांत भरती झाले आणि आणखी पांच वर्षांनीं म्हणजे १८८९ सालीं ते प्रवेशपरीक्षा पास झाले.

केशवसुतांच्या कवित्वशक्तीचा प्रादुर्भाव प्रथम बडोद्यास झाला असावा, असें श्री. रहाळकर सांगतात. परंतु केशवसुतांचे बंधु मोरोपंत व सीतारामपंत तो नागपुरास झाला असें सांगतात. नागपूरच्या वास्तव्यांतच केशवसुतांचा टिळकांशी व वासुदेव बळवंत पटवर्धनांशी परिचय झाला. केशवसुतांची कविता पुस्तकरूपानें प्रथम त्यांचे मित्र हरिभाऊ आपटे यांनीं प्रसिद्ध केली होती. त्यांत 'घड्याळ', 'उत्तेजनाचे दोन शब्द' व 'विद्यार्थ्यांप्रत' या कविता नव्हत्या. या कविता नाट्यछटाकार दिवाकर यांना पटवर्धनांकडून प्राप्त झाल्या होत्या. त्या त्यांनीं फेब्रुवारी, मार्च व मे १९१८ च्या 'मनोरंजनांत' प्रसिद्ध केल्या होत्या. 'गुलाबाची कळी' ही कविताहि एप्रिल १८९६ च्या 'मनोरंजनांतून' संशोधलेली होती. तेव्हां केशवसुतांच्या या आरंभकालांतील कविता नागपुरास असतांना पटवर्धनांच्या संग्रहीं राहिल्या असाव्यात, असें वाटतें. यांपैकी 'उत्तेजनाचे दोन शब्द' ही कविता नॉर्मन मॅक्लॉडच्या कवितेचें भाषांतर असून 'गुलाबाची कळी' ही कविता मूळ गटेच्या 'वाइल्ड रोझ'वरून फ्रॅन्झ शूवर्टनें इंग्रजीत आणली आहे आणि केशवसुतांनीं इंग्रजीवरून ती मराठीत उतरली आहे. त्या काळीं या कविता प्राथमिक रीडर्समध्ये असत. केशवसुतांच्या अभ्यासक्रमांत त्या असाव्यात आणि त्यांचें त्यांनीं मराठीकरण केलें असावें. परंतु हें मराठीकरण वेडेवांकडे असल्यामुळे त्यांनीं बहुधा या कविता आपल्या संग्रहीं ठेवल्या नसाव्यात. केशवसुत पुण्यास गेल्यानंतर त्यांचा नागपूरच्या पटवर्धनांशी पत्रव्यवहार चालू होता, असें 'वा. व. पटवर्धन, मु. नागपूर यांस' या कवितेवरून दिसतें. याच



सुमारास टिळकांचीहि 'घड्याळ काय म्हणतें?' या मथळ्याची एक कविता छापून प्रसिद्ध झालेली होती. तेव्हां कदाचित् केशवसुतांच्या कवितालेखनाचा आरंभ नागपुरास झाला असणेंहि संभवनीय आहे.

१८९० ते १८९६ केशवसुत मुंबईस कधीं मिशनशाळेंत तर कधीं ज्ञानोदय कचेरींत, कधीं कस्टम खात्यांत तर कधीं कल्याणास तात्पुरत्या नोकऱ्या मिळवून दिवस काढीत होते. मध्यंतरीं एक वर्षभर ते सावंतवाडीस होते. त्यांनीं 'संध्याकाळ' ही कविता तेथेंच रचल्याचा निर्देश आहे. १८९३ च्या सुमारास त्यांनीं मुंबईस त्रिन्हाड थ्याटलें होतें, परंतु १८९७ मध्ये प्लेगमुळें त्यांनीं मुंबई सोडली आणि खानदेशांत भडगांव येथें ते दुय्यम शिक्षक झाले. १९०१ पासून ते फैजपूर येथें ए. व्ही. स्कूलचे हेडमास्तर झाले. १९०३ सालीं ते धारवाड येथील सरकारी हायस्कूलांत मराठीचे शिक्षक म्हणून गेले. पुढें १९०५ सालीं सुट्टींत ते आपले चुलते हरि सदाशिव दामले यांच्याकडे गेले असतांना प्लेग होऊन वयाच्या अवघ्या ३९ व्या वर्षीं ७ नोव्हेंबरला मृत्यु पावले.

केशवसुतांचा स्वभाव अबोल व एकलकोंडा होता, असें त्यांचे बंधु सांगतात. त्यांनीं स्वतःहि 'नैर्ऋत्येकडील वारा' या कवितेंत आपल्या किरकिरेपणाचा उल्लेख केला असून एका इंग्रजी पत्रांत कवींच्या संमेलनासंबंधीं आपला विरोध दर्शविला आहे. या स्वभावामुळें ते लहानपणापासून चिंतनशील बनले होते. संस्कृत साहित्य किंवा प्राचीन मराठी कवितेपेक्षां त्यांना इंग्रजी कविता अधिक प्रिय होती. 'गोल्डन ट्रेझरी' हा त्यांचा आवडता कवितासंग्रह होता. वर्डस्वर्थ, शेले, कीट्स, बायरन् आदि रोमॅंटिक रिव्हाइवल्च्या काळांतील कवींच्या काव्यांवर त्यांची विशेष भक्ति होती. त्याचप्रमाणें त्यांनीं ज्या वेळीं म्हणजे १८८५ मध्ये विशेष हिरीरीनें लेखनास आरंभ केला, त्याच वेळीं दिवंगत झालेला अमेरिकन तत्त्वज्ञ व कवि इमर्सन् हा त्यांना विशेष पसंत होता. या सर्वांच्या विचारांचा त्यांच्या कवितेवर बराच प्रभाव पडला आहे. कवि आणि काव्य या विषयावर केशवसुतांच्या जवळजवळ वीस-बावीस कविता आहेत. त्यांतली विचारसरणी त्यांनीं इमर्सनकडून घेतली आहे. फरक इतकाच आहे कीं, इमर्सनचे विचार गद्यांत आहेत आणि केशवसुतांचे विचार पद्यांत आहेत.

केशवसुतांच्या कवितेंत दोन प्रकार प्रामुख्याने दृष्टीस पडतात. त्यांच्या कांहीं कवितांत मनोलेखन आहे आणि कांहीं कवितांत तत्त्वचिंतन अथवा विचारविवेचन आहे. केशवसुतांच्या ठिकाणी आत्मपरता अत्यंत उत्कटत्वात वसत होती. त्यामुळे त्यांच्या वाणीला विलक्षण ओज चढले आहे. मात्र मनोभावांच्या भरांत त्यांना भान राहत नाही आणि त्यामुळे त्यांच्या विचारांत विसंगति, विरोध व विसंवाद आदि दोष वारंवार उत्पन्न होतात. एके ठिकाणी ते 'देव कशाचे? अश्रु जे पिती, पायपोस त्या हाणा संप्रति' असा आदेश देतात, तर त्याच कवितेंत दुसऱ्या ठिकाणी 'देवांच्या मदतीस चला तर!' असे आवाहन करतात.

केशवसुतांच्या गूढगीतांना अर्थ आहे. 'झपूझा' ही स्थितप्रज्ञावर, 'कोणीकडून ग कोणीकडे' ही अज्ञात भूत व भविष्य आणि ज्ञात वर्तमान यांवर, तर 'हरपले श्रेय' ही शैशवांत समीप असलेल्या पण प्रौढ वयांत दुरावलेल्या स्वर्गीय आनंदावर लिहिलेली कविता आहे. केशवसुतांच्या तोकड्या व संदिग्ध भाषेमुळे त्यांचा अर्थ उलगडण्यास कष्ट पडतात इतकेंच!

केशवसुतांच्या लेखनारंभाच्या काळीच या देशांत राजकीय व सामाजिक चळवळींना सुरुवात झाली होती. शिक्षणाचा हळूहळू प्रसार होत होता. स्त्री ही पुरुषाची सहचर आहे, ही कल्पना धीरे धीरे मूळ धरीत होती. साहित्यांत कलेपेक्षां जीवनास आणि दैनंदिन आयुष्यांत कृत्रिमतेपेक्षां नैसर्गिकतेस अधिक प्राधान्य आहे, हे विचार समाजांत प्रसृत होत होते. केशवसुतांच्या कवितेवर या सर्वांचा परिणाम झाला आहे. त्यांनी राजकारणांत स्वतंत्रतेचा आणि समाजकारणांत सुधारणेचा पुरस्कार केला आहे.

स्वतःच्या काळशीं समरस होणारा केशवसुतांसारखा दुसरा कवि झाला नाही. त्या काळीं दळणवळणाच्या नव्या नव्या साधनांमुळे आपल्याकडील जुनी समाईक कुटुंबपद्धति जाऊन तिची जागा नवीन विभक्तपद्धति घेत होती. अशा वेळीं दोलाचल होणाऱ्या मनाचें चित्रलेखन केशवसुतांनी 'घराकडील गोष्टी', 'नैर्ऋत्येकडील वारा' व 'सिंहावलोकन' या कवितांत केले आहे. त्या काळीं शाळाखातें आणि वर्गातील काळे फळे व खडू इत्यादि सामग्री अनोळखी व नवखीच होती. केशवसुतांनी 'अंधार जो फलक होत असे अम्हांतें, चेतोनिबद्ध जनाचित्र लिहावयातें'

या ओळींत तिचा समुचित उपयोग करून घेतला आहे. 'फुकट दवड-म्हेल्या तासां'त नव्यानेच आलेल्या कालनिदर्शन यंत्राचा, 'असे कांता कोगार्त'मध्ये विद्युत्संदेशाचा आणि 'नैर्ऋत्येकडच्या वाऱ्यां'त कांतेच्या त्रांचा उल्लेख करून त्यांनी या नव्या सुधारणांकडे आपण किती जागरूकपणे पाहत आहोंत, तें पटवून दिलें आहे. '—प्रत'मध्ये ऊर व नाडी यांच्या तपासणीच्या निमित्तानें नवीन वैद्यकीय साधनाचा—स्टेथो-स्कोपचा—अप्रत्यक्ष सूचक उल्लेख केला आहे. आणि 'कांट्यावांचुनि गुलाब नाही' या कवितेंत—

छायेवांचुनि कधीं प्रभा ती कुणीं पाहिली काय ?

'चित्र होतसे, जेव्हां छाया प्रभेस मिलुनी जाय'

या ओळींनीं त्या काळीं अगदीं नवा असलेला कॅमेरा सूचित केला आहे. केशवसुतांची कविता त्यापूर्वीच्या कवींच्या कवितेपेक्षां नवी व निराळी वाटते ती यामुळेंच !

मराठी कवितेच्या रचनेमध्ये नव्या नव्या सुधारणा करण्याचे प्रयोग केशवसुतांपूर्वीच्या पिढींतील कवींनीं केले होते. यमकाचें बंधनहि तोडण्याचा केशवसुतांनीं प्रयत्न केला नाही. यावरून त्यांना रचनेच्या बाबतींत बंडखोरी करावयाची होती, असें म्हणतां येत नाहीं. इंग्रजीच्या अनुकरणानें त्यांनीं शार्दूलविक्रीडित वापरून मराठींत मिल्टोनिक सॉनेट आणलें. या परकीय प्रकारांत भाव आणि विचार यांचें सामंजस्य व समवाय असल्यामुळें मनोलेखन व तत्त्वचिंतन करणाऱ्या केशवसुतांच्या प्रकृतीस तो विशेष मानवला आणि मराठी काव्यवाङ्मयांत कायमचा रूळून बसला.

केशवसुतांची भाषा खडबडीत आहे. कित्येकदां त्यांचे शब्दहि समर्पक नसतात. त्यांची जातिरचना हवी तशी निर्दोष नाही. पण त्यांच्या गुण-समुच्चयासमोर हे दोष कुठल्या कुठें पार उडून जातात.

### केशवसुतांचें काव्यवाङ्मय

१ केशवसुतांची कविता. २ हरपलें श्रेय ( निवडक कविता )



## १. मजुरावर उपासमारीची पाळी :

वृत्त : इंद्रवंशा. शेवटला श्लोक इंद्रवज्रा वृत्तामध्ये.

या कवितेखाली ७ जानेवारी १८८९ असा कालनिर्देश आहे. काल-निर्देशाबरोबर स्थलनिर्देश नाही. परंतु याअगोदर पांच-सहा वर्षांपासून मोठमोठ्या शहरांतून गिरण्या सुरू झाल्या होत्या आणि रोजीने लागून हप्त्याच्या शेवटी मजुरी मिळवणारा एक नवा श्रमजीवी वर्ग निर्माण होत होता. त्याला त्या वेळी मजूर हें नांव होतें. हा वर्ग आर्थिक विषमतेतून जन्मास येत होता. समतावादी व सहानुभूतिपर दृष्टिकोण असलेल्या केशवसुतांच्या लक्षांत हा अन्याय येऊन चुकला होता. तसा अप्रत्यक्ष निर्देश या कवितेच्या ३ व्या व ५ व्या श्लोकांत आहे. ४ थ्या श्लोकांत मजुराचा सोशिक व अल्पसंतुष्ट स्वभाव दाखवला आहे. तो चालू युगांतील क्रांतिवादी मजुराच्या स्वभावापेक्षां भिन्न आहे. कारण त्या काळी साम्यवादाचा आजच्याइतकें बळ प्राप्त झालेलें नव्हतें. ५ व्या श्लोकांत देवाचा उल्लेख आहे, पण त्यांत त्याच्या समदृष्टीचा उपहास आहे. कविता मजुराच्या तोंडची आहे. तेव्हां धारेवर, माकळती, कारभारिण इत्यादि शब्द साजेसेच पडले आहेत. परंतु ' मंदिर ' हा शब्द ' देऊळ ' या अर्थानें प्रयुक्त होत असल्यामुळें तो धनिकांच्या ' हवेली ' साठीं योजणें बरें वाटत नाही. ' श्रीमंत ' या शब्दासाठीं अलीकडे पुंजीपति अथवा मालक अथवा भांडवलवाले हे शब्द रूढ झाले आहेत. आज ज्या विषयाला राजकारणामुळें जागतिक महत्त्व प्राप्त झालें आहे, तो विषय केशवसुतांनीं ६० वर्षांपूर्वीच हाताळला होता, हें पाहून त्यांच्या प्रतिभेविषयी आदर वाटतो.

पृ. १४ ओ. २९ व ३० ' लाडक्यांनो ' व ' फिरोन ' हें यमक नवें म्हणून प्रेक्षणीय आहे.

## २. रा. रा. वळवंत आपाजी दाते यांस :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

दाते हे विद्यार्थीवृंदांतील एक होतकरू वक्ते होते. एका साप्ताहिक सभेंतील त्यांचें वक्तव्य ऐकून केशवसुतांना ही ओजोगुणयुक्त कविता

स्फुरली. तिच्याखाली ' पुणे १८८९ ' असा स्थलकालनिर्देश आहे. हे दाते पुढे फर्ग्युसन कॉलेजचे विद्यार्थी असतांना महाडास एका डोहांत म्हबुडून वारले.

क' ही कविता लिहिली त्या सुमारास राजकीय व सामाजिक आंदोलनें सुरु होऊन पुरतें एक दशकहि लोटलें नव्हतें. तो आरंभीचा ताजा भर होता. त्या नव्या दमांत आणि वाढत्या जोमांत केशवसुतांनीं आपल्या एका समवयस्क राष्ट्रभक्ताचें गौरव केलें आणि त्याच्या वक्तृत्वावर हें कवन लिहून त्याला महाराष्ट्रांत अमर केलें. देशाची अवनत स्थिति पाहून केशवसुतांना कसा उद्वेग वाटत असे, तें या कवितेवरून स्पष्ट होईल.

पृ० १४ ओ० ३ व ४ दात्यांच्या वक्तव्याचें प्रभावोत्पादक वर्णन. 'तडित्' व 'वारें' या शब्दांनीं त्यांचे हावभाव वादळाप्रमाणें अनावर असल्याचें सूचित केलें आहे. आणि 'गर्जना' व 'स्तंभिते' या शब्दांनीं त्यांची वाणी सिंहाच्या वाणीप्रमाणें धीरगंभीर होती आणि ती कानीं पडत असतांना श्रोते स्तंभाप्रमाणें तटस्थ वसत, असें सूचित केलें आहे. **स्तंभिते**—स्तंभ या नामापासून क्रियापद बनवलें आहे.

पृ० १५ ओ० ५ शब्दांवर वृष्टीचें रूपक.

... १५ ओ० १३ वक्तृत्वावर वज्राचें रूपक.

... १९ व २० वृत्तसुखार्थ **जयजयकार** ऐवजीं जैजैकार असें लेखन. पण त्यामुळें जोर कायम.

३. सिंहावलोकन :

वृत्त : पृथ्वी.

- ही कविता आत्मपर असल्यानें भावोत्कट उतरली आहे. कवितेखालील स्थलकालनिर्देशावरून केशवसुत या वेळीं वळणें येथें आपल्या वडिलांकडे आले होते असें दिसतें. केशवसुतांनीं मुंबईस एकटें राहूं नये, बिन्हाड करावें, असा त्यांच्या वडिलांचा आग्रह असे. परंतु नोकरी तात्पुरती असल्यामुळें केशवसुत टाळाटाळ करीत. अशा एकाद्या प्रसंगीं

वडीलमाणसांशीं त्यांची वादावादी होत असावी असें वाटतें. त्यामुळे केशवसुतांना पश्चात्ताप होई. या कवितेंत त्यांचें पश्चात्तापपुनीत अंतःकरण उघड झालें आहे. सिंहावलोकन म्हणजे ज्याप्रमाणें सिंह कांहीं अंतर चालून गेल्यावर क्षणभर थबकतो आणि आक्रमिलेल्या टापूवर एव नजर टाकतो, त्याप्रमाणें मागील आयुष्यावर दृष्टि टाकणें.

पृ० १५ ओ० ३ दृग्-डोळे.

.... १६ .. ८ ध्वलिता निशा-चांदण्या रात्रीं.

... १३ ते १६ पश्चात्तापपुनीत अंतःकरणाचे शब्द.

स्वजनमानसें-नातलगांचीं मनैं.

.... १९ घनतमिस्र-दाट अंधार ( निराशा ).

४. क्षणांत नाहींसे होणारे दिव्य भास :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

[ कवि, चित्रकार आणि तानसेन यांस जीं अलौकिक स्वप्नें, ज्या दिव्याकृति आणि जे गंधर्वालाप भासमान होतात, -अहह ! त्यांपैकीं किती थोडे मात्र त्यांस आपल्या करामतींत गोवून ठेवितां येतात बरें ! ] अशी या कवितेवर टीप आहे. तिच्यावरून केशवसुतांना साहित्य, संगीत व चित्र या तीन ललितकलांतील मूलभूत एकता मान्य असावी, असें दिसतें. या एकतेलाच 'सुंदरता' हें नांव आहे. वस्तुतः केशवसुतांना ही कविता इमर्सन्च्या 'लव्ह' या निबंधावरून स्फुरली आहे. त्यांत तो म्हणतो : "We cannot approach beauty... What else did Gean Paul Richter signify, when he said to music 'Away ! Away ! thou spackest to me of things which in all my endless life, I have not found, and shall not find.' The same remark holds of painting. And of poetry, success is not attained, when it lulls and satisfies, but when it astonishes and fires us with new endeavours after the unattainable." हेंच तत्त्व त्यानें 'सुंदरते'ला लावलें आहे. ज्यामुळे

नवीन स्फूर्ति प्राप्त होईल अशा विभ्रमांत व उद्दीपनांत सुंदरतेचें खरें यश आहे; तें तिच्या संमोहनांत अथवा समाधानांत नाही, असें तो म्हणतो. याच तत्वाचें विवेचन करीत असतांना त्यानें एक पुरातन रूपक-कथा सांगितली आहे:—

‘ The soul of man, embodied here on earth, went roaming up and down ’ असा त्या कथेचा आरंभ आहे. त्या कथेचा पुढचा भाग असा : ‘ The Diety sends the glory of youth before the soul;...and man beholding such a person in the female sex runs to her, and finds the highest joy in contemplating the form, the movement and intelligence of this person, because it suggests to him that which is in the beauty, and the cause of the beauty.’

केशवसुतांनीं हीच कथा तशीच्या तशी मराठींत आणली आहे. कवीचा आत्मा त्यास परिचित असणाऱ्या सौंदर्यतत्वाचा शोध घेत असतो. तें त्याला कधीं कधीं अप्सरांच्या रूपानें भासमान होतें. तो त्याच्याशीं तादात्म्य पावूं इच्छितो, तोंच व्यावहारिक जगाची हांक त्याच्या कार्णी पडते आणि त्याची समाधि भंग पावते.

पृ. १७ ओ. १३ व १४ आका म्हणजे व्यावहारिक किंवा सांसारिक कष्टांचें आणि काळज्यांचें जीवन. ‘ आकावाईचा फेरा ’ या वाक्प्रचारावरून केशवसुतांना हा शब्द सुचला असावा. ‘ रूढि, सृष्टि आणि कलि ’ या कवितेवरील टीपेंत हा शब्द त्यांनीं आणखी एकदां वापरला आहे.

पृ० १७ ओ० २० केशवसुतांची ही एक आवडती कल्पना होती. ती त्यांच्या काव्यांत अनेकदां पुनरुक्त झाली आहे. पृथ्वीवर पापें आहेत आणि स्वर्गांत सुखें आहेत. तेव्हां सामर्थ्य असतें तर आपण येथील दुःखांचा निरास केला असता आणि सुखांचा प्रसार केला असता, असा त्यांचा आशय आहे.



## ५. नवा शिपाई :

जाति : साक्री, अंतरा फटक्याचा.

मानव हा येथून तेथून एकच आहे, या मानवतावादाच्या तत्वावर आधारलेली ही कविता आहे. मानव जर स्वार्थरहित होऊन व्यापक दृष्टीचा झाला आणि विशाल जीवनांत शिरला, तर मग जगांत मानवा-मानवांतले कलह होणार नाहीत, असा या कवितेचा सूर आहे.

ही कविता केशवसुतांना ' इमर्सन ' वाचीत असतांना सुचली असावी. साम्यासाठी हीं कांहीं स्थळें पाहाः—

Every thing is Kin of mine (Mithridates)

जिकडे जावें तिकडे माझीं भावंडे आहेत.

As I spoke, beneath my feet the ground-pine curled  
its pretty wreath—

—Each and All;

Emerson.

कोठेंही जा पायांखालीं तृणावृता भू दिसते.

Over me soared the eternal sky.

कोठेंही जा डोईवरतें दिसतें नीलांबर तें

इमर्सननें वैदिक वाङ्मयाचीं भाषांतरें वाचलीं होतीं. वर दिलेली पहिली कल्पना त्याला 'वसुधैव कुटुंबकम्' या उक्तीवरून सुचली असावी. वस्तुतः केशवसुतांनीं हें आपलेंच तत्त्वज्ञान वैदिक वाङ्मयावरून व्यावयाचें तें इमर्सनवरून घेतलें आहे.

नवा शिपाई म्हणजे नव्या युगांतील नवीन दृष्टीचा शूर वीर.

पृ० १८ ओ० १ ते ९ यांत कोत्या भेदभावांचा निषेध आहे.

... .. १० ते १८ यांत ' हें विश्वचि माझे घर ' या विशाल मानवतेच्या कल्पनेचा साक्षात् स्वीकार आहे.

... .. १९ मी पूर्वीं अपुल्याला म्हणजे माझ्या ठिकाणीं असलेल्या विशाल मानवतेच्या भावनेची मी पूजा करतो.

पहा—' आत्मौपम्येन सर्वत्र.. इ० '

पृ० १८ ओ० २१ व २२ 'मी' हा शब्द संपुष्टांत आणणें म्हणजे विशाल  
मानव्याच्या भावनेला झुगारून केवळ स्वतःपुरतें  
आकुंचित दृष्टीने पाहणें.

पृ० १९ ओ० २३, २४, २५ लहान-मोठे-समाजांतील वरिष्ठ व कनिष्ठ.  
साधु-अधम-सजन व दुर्जन.

दूर-जवळ-आप्त व परके.

... .. २८ ते ३६ यांत सरळ विचार न मांडतां तो हलव्याच्या  
उपमेनें मांडल्यामुळें क्लिष्टतेचा दोष उत्पन्न झाला  
आहे. मुळांत सर्व माणसें हलव्यांतील तिळांप्रमाणें  
भेदभावरहित असतात. परंतु त्यांच्यावर निर-  
निराळ्या संस्कृतींचा पाक चढला म्हणजे तीं मूळ  
स्वरूप विसरून एकमेकांशीं भांडूं लागतात.  
वास्तविक असें होऊं नये. कवितेंतला विचार अत्यंत  
उदात्त आहे. परंतु त्यासाठीं योजलेली हलव्याची  
उपमा अस्थानीं असून त्यांचे कांटे एकमेकांना  
बोचतात, ही कल्पना हास्यास्पद झाली आहे. या  
गंभीर काव्यांत उपमेचा मोह टाळतां आला  
असता तर बरें झालें असतें.

... .. ३६ प्रेषित ( prophet )-पैगंबर, देवानें धाडलेला.

६. सतारीचे बोल :

जाति : पादाकुलक.

केशवसुतांच्या उत्कृष्ट कवितांपैकी ही एक कविता आहे. संगीतांत  
मनुष्याच्या विषण्ण वृत्तीला प्रसन्न करण्याचें सामर्थ्य कसें आहे, तें या  
कवितेंत दाखविलें आहे. या कवितेला ड्रायडनच्या 'अलेक्झांडर्स फीस्ट'  
या कवितेचा आधार असावा, असें काहीं जणांना वाटतें. पण तें बरोबर  
नाहीं. या कवितेंत संगीताच्या प्रभावाबरोबरच केशवसुतांनीं अद्वयाच्या  
आनंदाचें तत्त्वहि विशद केलें आहे. त्यामुळेंच ही कविता इतकी परिणाम-  
कारक झाली आहे. हिच्यांत एक-दोन ठिकाणीं तुकारामांच्या संत-



वाणीचा अनुवाद आहे. त्यावरून निव्वळ संगीताच्या प्रभावाला उपलक्ष करून ही कविता लिहिली नसावी असें वाटतें. मनुष्याला अमर आशा, अखंड आनंद व अविचल शांति हवी असेल, तर त्यानें अखिल भेदभाव विसरून अद्वयांत लीन झालें पाहिजे, असा या कवितेचा अभिप्राय आहे.

‘सतारीचे बोल’ हा प्रयोग बरोबर नाही. बोल तबल्याचे असतात; सतारीचे स्वर असतात.

पृ० २० ओ० २५ ते ३२ स्वभावोक्तीचें सुंदर उदाहरण.

२१ ... ५३ व ५४ पाहा—‘शुद्ध बीजापोटीं ।

फळें रसाळ गोमटी ॥’ —तुकाराम

... ५५ गदा—रोगाला.

... २२... ६३ तम अल्प—द्युति बहु—‘तम’ व ‘द्युति’ हे शब्द अनुक्रमें ‘निराशा’ व ‘आशा’ यांचे व्यंजक आहेत.

... ६७ ते ७२ पाहा :—‘अणूरणीया थोकडा । तुका ब्रह्मांडाएवढा ॥’

“Standing on the bare ground, my head bathed by the blithe air, and uplifted into infinite space all mean egotism vanishes. I become a transparent eyeball. I am nothing; I see all; the current of the universal Being circulated through me. I am part or parcel of good.” —Nature : by Emerson

अखिल भेद विसरणें म्हणजेच अद्वैत पटणें.

पृ० २३ ओ० ८१ ते ८८ ‘ॐ शांतिः शांतिः शांतिः’ या त्रिवार घोषणेचा जसा मनावर परिणाम होतो तसाच तो या अखेरच्या पुनरुच्चारित ओळींचा होतो. केशवसुतांची ही कविता विचारदृष्ट्या जितकी उदात्त तितकीच कलादृष्ट्या उत्कृष्ट आहे.

## ७. फुलपांखरुं :

जाति : अंजनीगीत. शेवटचा श्लोक वसंततिलका वृत्तांत.

ही कविता तिच्या मथळ्यावरून निसर्गविषयक वाटते खरी. पण केशवसुतांनी फुलपांखराला उपलक्ष करून तिच्यांत आपल्याच चिंतांचें, दुःखांचें आणि संकटांचें गाणें गाइलें आहे. ' फुलपांखरुं ' हा शब्द Butterfly ला प्रतिध्वनि म्हणून त्या काळीं नव्यानेच मराठी कवितेंत प्रविष्ट झाला होता. यापूर्वी त्याला ' चित्तर ' व ' पतंग ' हे प्रतिशब्द होते. या कवितेंत एक-दोन ठिकाणीं केशवसुतांनीं शेलेचें अनुकरण केलें आहे. मूर्त वस्तूला उपमेय करून तिची अमूर्त कल्पनेशीं तुलना करावयाची, ही शेलेची पद्धति होती. ती केशवसुतांनीं त्याच्याकडून घेतली आहे.

- पृ० २३ ओ० ९ ही कल्पना शेलेच्या To A Skylark मधील Like a poet hidden वरून, आणि
- ... २४ ... १३ ही कल्पना त्याच कवितेंतील Like a high-born maiden वरून सुचली असावी.
- ... ... २१ ' तिमिर ' हा शब्द ' निराशे 'चा व्यंजक आहे.
- ... ... २३ पुष्पपतंग हें फुलपांखराचें संस्कृतीकरण.
- ... ... २५ व २६ यांवर We look before and after And pine for what is not या विचाराची छाया आहे.
- ... ... ३१ ग्रीष्माचें खररूप हा प्रयोग संसारांतील तापदायक संकटांचा व्यंजक आहे. प्रत्यक्ष ग्रीष्माशीं त्याचा संबंध नाही.
- ... ... ३५ फुलपांखराला मरण आहे, ही वस्तुस्थिति आहे. केशवसुतांना तें माहीत नसेल असें नाही. परंतु दैनंदिन जीवनाच्या काळज्यांमध्ये मनुष्याची जिवंत असूनहि जी मेल्यागत स्थिति होते, तशी स्थिति या सदैव आनंदी असणाऱ्या फुलपांखराची होते का, असा प्रश्न ते विचारीत आहेत. मनुष्याच्या जीवनांतील

विषाद आणि फुलपांखराच्या जीवनांतील आनंद यांतील विरोध ते स्पष्ट करीत आहेत, अर्थात् या काव्याचा आस्वाद केवळ कल्पनारम्य काव्य म्हणूनच व्यावयाचा.

पृ० २५ ओ० ३७ व ३८ केशवसुतांच्या या दोन ओळी अवतरण म्हणून अनेकदां दृष्टीस पडतात. कवीच्या काव्यसृष्टीला सुंदर वस्तूच्या विषयाचा कसा वेध असतो, तें यांत थोडक्यांत सांगितलें आहे.

.... ... ४० एकांतप्रिय व अबोल केशवसुतांच्या मनाची ठेवणच उदास होती, असें दिसतें.

## ८. आम्ही कोण ?

सुनीत.

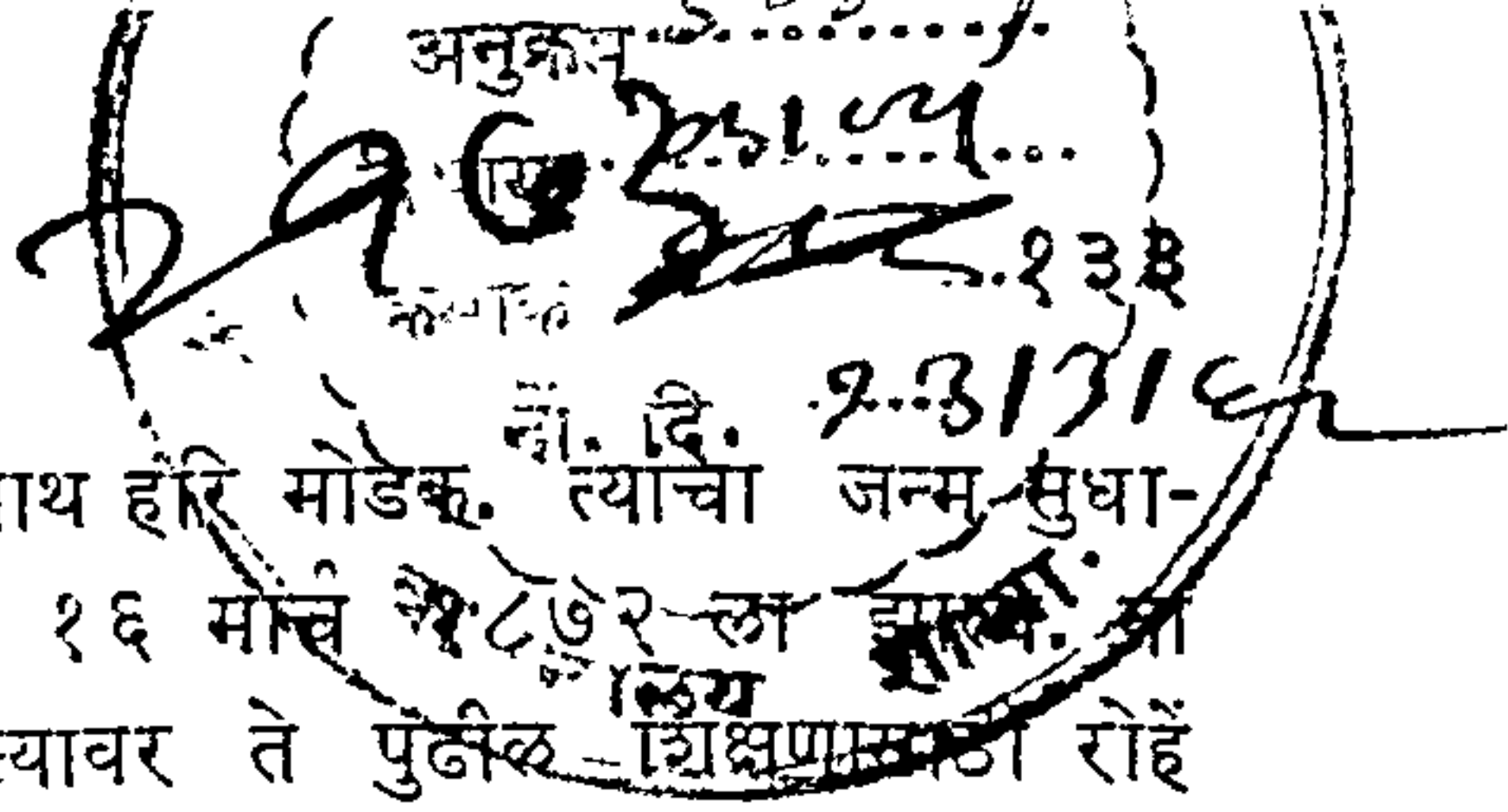
कवीच्या उच्चतर कर्तव्याची जाणीव असल्यामुळें केशवसुतांनीं या सुनीतांत कवीच्या कर्तृत्वाचें थोड्याच परंतु निवडक शब्दांत मोठें जोमदार वर्णन केलें आहे. त्यांत इतरेजनांचा ' फोले पाखडणारे ' असा थोडाफार अधिक्षेप असला, तरी तो निर्हेतुक आहे. त्यामुळें काव्याची परिणामकारकता अधिक वाढली आहे. या काव्यांतील विचार तेजस्वी असून भाषा ओजस्वी आहे. केशवसुतांच्या वृत्तींत एक तऱ्हेची बेपर्वाई व धिटाई होती. त्यामुळें या कवितेस दर्पाचा थोडाफार दर्प येतो असें वाटतें खरें. परंतु कविता स्वतः केशवसुतांसंबंधीं नसून एकंदर कवींच्यासंबंधीं,—विशेषतः वाल्मीकि, व्यास, होमर, शेक्सपिअर यांसारख्या कवींसंबंधीं—आहे हें लक्षांत घेतलें पाहिजे. आणि त्यांच्या कार्याचा एकंदर जगावर प्रभाव पडला आहे, हें कवूल केलें पाहिजे.

पृ० २५ ओ० ३ लीलया—मजेनें.

... ... १२ शरण्य—संरक्षण, आधार.  
मंगल—कल्याण.

४. माधवानुज ( १८७२—१९१६ )

टीपा



माधवानुजांचें संबंध नांव काशीनाथ हरि मोडक. त्यांचा जन्म सुधा-  
गड तालुक्यांत पडघवली या गांवां १६ मार्च १८७२ ला झाला. आ  
ठिकाणीं मराठी ४ इयत्ता पूर्ण झाल्यावर ते पुढील शिक्षणासाठी रोहें  
येथें आपल्या मामांकडे राहिले. त्यांचं मामा व्यवसायानें शिक्षक असून  
चांगले व्युत्पन्न, कलाप्रेमी व विद्याव्यासंगी होते. माधवानुजांचे ज्येष्ठ  
बंधु माधव हरि मोडक हेच त्यांच्या गांवांतले पहिले ग्रॅज्युएट होते. ते  
अतिशय बुद्धिमान् व महत्वाकांक्षी होते. त्यांना कविता रचण्याचा नाद  
होता. तेव्हां बहुश्रुत मातुल व रसिक ज्येष्ठ बंधु यांच्या सान्निध्यांत माधवा-  
नुजांच्या प्रतिभेचा उन्मेष झाला.

१८८७ पासून पुढें माधवानुजांचें इंग्रजी शिक्षण पुण्यास न्यू इंग्लिश  
स्कूलमध्ये झालें. १८८९ व ९० या दोन वर्षीं ते मॅट्रिकला बसले. परंतु  
गणितांत गति नसल्यामुळें ते यशस्वी झाले नाहींत. तेव्हां मॅट्रिकचा नाद  
सोडून ते बी. जे. मेडिकल स्कूलमध्ये प्रविष्ट झाले. आणि तेथूनच  
१८९४ च्या नोव्हेंबरमध्ये हॉस्पिटल असिस्टंटची परीक्षा पास झाले.

डिसेंबर १८९४ मध्ये माधवानुजांची नेमणूक ठाणें येथें सिव्हिल  
हॉस्पिटलवर झाली. त्या वेळीं तेथें ' इंदिरा ' काव्याचे कर्ते कर्नल कीर्तिकर  
सिव्हिल सर्जन होते. त्यांच्या साहचर्यांत माधवानुजांचा सवडीचा काळ  
काव्यशास्त्रविनोदांत व्यतीत झाला. किरात, केशवसुत व अनंततनय हे  
माधवानुजांचे निकटवर्ती स्नेही होते. केशवसुतांच्या सहवासाचा एक परि-  
णाम असा कीं, त्यांच्याप्रमाणेंच माधवानुजांनीं अमेरिकन कवि व तत्त्वज्ञ  
इमर्सन याचा अभ्यास केला, आणि त्यांच्या quatrains च्या धाटणी-  
वर केशवसुतांनीं जशा ' पद्यपंक्ति ' रचल्या, तशाच त्या माधवानुजांनींहि  
रचल्या. केशवसुतांच्या पद्यपंक्ति २३ मे १८९६ रोजीं व माधवानुजांच्या  
पद्यपंक्ति १८ ऑगस्ट १८९६ रोजीं रचलेल्या आहेत. केशवसुतांनीं  
नव्यानेंच प्रवर्तित केलेल्या सॉनेट या काव्यप्रकाराला साहाय्य म्हणून  
माधवानुजांनीं सुनीतें लिहिलीं आहेत. त्यांतील ' जादूच्या प्रभावा ' चें  
केशवसुतांच्या ' क्षणांत नाहींसे होणाऱ्या भासा ' शीं पुष्कळच साम्य आहे.

माधवानुजांच्या पिढींतले बहुतेक कवि व्यवसायानें शिक्षक होते. त्या-  
पूर्वींच कीर्तिकर व त्या पिढींतले माधवानुज हेच काय ते व्यवसायानें



डॉक्टर असणारे कवि होते. जबाबदारीची सरकारी नोकरी आणि अवि-  
श्रांत डॉक्टरीचा व्यवसाय यांमुळे त्यांना स्वतःच्या प्रकृतीकडे दुर्लक्ष करून  
निरनिराळ्या रोगग्रस्त विभागांत आणि दुष्काळपीडित प्रांतांत पायीं प्रवास  
करावा लागला. माधवानुजांचा स्वभाव कोमल आणि करुण होता. त्यांनीं  
दुष्काळ व रोगराई या हृदयद्रावक प्रसंगांवर जवळ जवळ दहा कविता  
लिहिल्या आहेत.

सरकारी नोकरी कंटाळवाणी, दगदगीची आणि त्रासाची झाल्यामुळे  
माधवानुजांनीं तिचा राजिनामा दिला. आणि कल्याणला दवाखाना काढून  
स्वतंत्र उद्योग आरंभिला. परंतु जांचक झालेल्या नोकरमुळे त्यांची शरीर-  
प्रकृति क्षीण झाली होती. तिला विश्रांति मिळावी म्हणून ते १८९९ च्या  
सुमारास कांहीं काळ आपले वडील बंधु माधवराव यांच्याकडे अलाहाबादला  
जाऊन राहिले होते. या बंधूंविषयीं माधवानुजांना अत्यंत आदर असल्या-  
मुळेच त्यांनीं 'माधवानुज' हें काव्यनाम धारण केलें होतें. याच सुमारास  
माधवानुजांनीं बंगाली भाषा व साहित्य यांचा अभ्यास केला. त्यांनीं 'कृष्णा-  
कांतरे बुइल', 'दुर्गेशनांदिनी' व 'कपालकुंडला' या बंकिमचंद्रांच्या कादं-  
ब्यांचीं, मायकेल मधुसूदन दत्त यांच्या 'मेघनादवधा'चें आणि टागोरांच्या  
गीतांजलींतील कांहीं गीतांचीं भाषांतरें केलीं आहेत. तींच तेवढीं समोर  
ठेवून माधवानुजांची कविता भाषांतरित आहे, असा आरोप करणें बरोबर  
ठरणार नाही. या भाषांतरित कवितांच्या प्रमाणांत माधवानुजांची स्वतंत्र  
कविता अधिक भरेल.

कल्याणला स्वतंत्र धंदा सुरू केल्यानंतर देखील माधवानुजांना फारसा  
आराम मिळाला नाही. दरसालची प्लेगची फेरी, त्यामुळे करावें लागणारें  
स्थलांतर, धंद्याची दगदग व ढांसळलेल्या प्रकृतीमुळे होणारे शरीरकष्ट-  
या त्रासांनीं त्यांना फार सतावले. १९१५ सालच्या एप्रिलपासून तर  
त्यांची प्रकृति फारच खालावली आणि नंतर जवळजवळ एक वर्षानें  
म्हणजे २ मार्च १९१६ रोजीं त्यांचा अंत झाला.

माधवानुजांच्या मनोरचनेचा त्यांच्या कविताकृतीवर फार मोठा परि-  
णाम झाला आहे. लोकेषणा हें त्यांचें साध्य नव्हतें. आत्मनिरीक्षण, शुद्ध  
अंतःकरण, सहनशीलपण आणि करुणपण या गुणांचें त्यांनीं संगोपन केलें

होतें. त्यामुळें त्यांच्या कवितांत शालीनता, ऋजुता व कोमलता यांचें दर्शन होतें. त्यांचे विचार मवाळ असले तरी निर्मळ होते. आणि म्हणूनच त्यांची वाणी सरळ, साधीसुधी व सुबोध आहे. कवितेला उपदेशाचें व तात्पर्याचें वावडें असतें, असा कलापक्ष आहे. परंतु प्रत्येक वस्तूकडे सहानुभूतीनें पाहणाऱ्या माधवानुजांनीं हें विकट कार्यहि सहजतेनें व सुंदरतेनें पार पाडलें आहे.

## माधवानुजांचें काव्यवाङ्मय

१. माधवानुजांची कविता.

१. बर्न्सकवि :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

रॉबर्ट बर्न्स हा स्कॉच लोकांचा राष्ट्रीय कवि खराखुरा शेतकरी होता. एकदां हा शेत नांगरीत असतांना एका बिळांतून एक उंदीर बाहेर पडला. त्यांवर देखील यानें एक सरस कविता लिहिली आहे. याची कविता सरळ, साधी व सुंदर आहे. तिच्यातील मनोलेखन इतकें मन वेधतें कीं, जणूं नजरबंदीचा प्रयोग व्हावा. याच्या कवितेंत विशेष विचार नसतांना, याची विशिष्ट अशी लेखनशैली नसतांना, आणि याच्या लेखनांत भाषेचे व छंदःशास्त्राचे अनेक दोष असतांनाहि केवळ भावनो-त्कटतेमुळें याची कृति रसिकांत प्रिय झाली आहे. १७५९ ते १७९६ हा या कवीचा काळ होय.

माधवानुजांनीं ज्या सुमारास कवितालेखनास प्रारंभ केला, त्या सुमारास आधुनिक मराठी कवितेच्या क्षेत्रांत वर्डस्वर्थ, बर्न्स, स्कॉट इत्यादिकांच्या कवितांप्रमाणें कवितेंतलें कथन हें साधें, सरळ व सोपें असावें, मनुष्याच्या निरनिराळ्या विकारांचें चित्रलेखन करावें आणि निसर्ग हा जात्याच सुंदर म्हणून त्याचें अनुकरण करावें, अशा प्रकारची विचारसरणी प्रसृत होत होती. प्रस्तुत कविता ही त्या विचारसरणीचें फळ आहे.

पृ० २६ ओ० ४ वात्सल्य म्हणजे वस्तुतः मुलावरील प्रेम. परंतु यथें  
... आत्मीयता, आपलेपणा असा अर्थ व्यावयाचा.



- पृ० २६ ओ० १३ व १७ बर्न्स स्वतः शेतकरी होता. त्याची उंदरावरील कविता.
- ... २७ ... २० अर्थान्तरन्यास.
- ... ... २१ पर्णकुटी अर्थात् बर्न्स शेतकरी असल्यामुळे त्याची राहण्याची जी झोपडी होती ती.
- ... ... २७ विषय-भूप्रदेश.
- ... ... २८ जन्मदाभूमि-स्कॉटलंड. बर्न्स तेथला.

## २. दगड फोडतांना :

१८९७ च्या दुष्काळांत गरिबांना अन्न देऊन सार्वजनिक कामें करून घेत. माधवानुज फिरतीवर असतांना खडी फोडणारी एक अशक्त व त्रस्त स्त्री त्यांनीं पाहिली. त्या प्रसंगानें त्यांना टॉमस हूडची ' दी सॉग ऑफ दी शर्ट ' ही कविता आठवली असावी. तिच्यांतील ' Stitch-Stitch-Stitch ' किंवा ' Work-Work-Work ' या ओळींच्या नमुन्यावर त्यांनीं ' फुट्-फुट्-फुट् ' किंवा ' कुट्-कुट्-कुट् ' अशी रचना केली आहे. ती नादानुकारी, अर्थपूर्ण व परिणामकारक आहे.

पृ० २८ ओ० ९, १०, १७ व १८ यांतील कल्पना करणारसाला पोषक आहेत.

... ... २३ ते २६ यांत उमेद खचलेली दाखविली नाही, हें विशेष आहे.

## ३. कृष्णाकोयनांचा संगम :

हा सुंदर संगम सातारा जिल्ह्यांत आहे. माधवानुजांचें हें गीत त्यांतील स्वाभाविक भावाविष्करणामुळे आणि साध्या गोड चालीमुळे एके काळीं अखिल महाराष्ट्रांत घरोघर पसरलें होतें.

पृ० २९ ओ० ६ सिकता-वाळू.

... ... ८ ते १० माधवानुजांचा तात्पर्य काढण्याचा स्वभाव.

... ... १० झष-मासे.

... ... १२ भवजल-संसारावर सरोवराचें अथवा सागराचें रूपक.

... ३० ... २१ अघ-पाप.

## ४. दीपविसर्जन :

पळसाच्या द्रोणांत फुलांच्या पाकळ्या पसरून त्यांत कणकेचा दिवा उजळावयाचा आणि त्यानें पुण्यपावन नदीला आरती ओवाळून मग तो द्रोण दिव्यासह नदीच्या प्रवाहांत सोडावयाचा, ही या देशांत प्राचीन प्रथा आहे. सायंकाळीं हें दृश्य फारच सुंदर दिसतें. तोथें, क्षेत्रें, सरितासंगम, वनस्पति इत्यादि निसर्गरमणीय दृश्यें पाहून माधवानुजांचें अंतःकरण आनंदानें उचंबळून येत असे. तीं त्यांना प्रसन्नतेचीं, पावनतेचीं आणि शांतीचीं द्योतकें वाटत. अशाच एका प्रसंगावर त्यांना ही कविता उत्स्फूर्त झाली आहे. विषय वेचण्यांत माधवानुजांची अभिरुचि कशी उच्च प्रतीची होती आणि सौंदर्यशोधनांत दृष्टि किती सूक्ष्म होती, तें या कवितेवरून लक्षांत येईल. ही कविता श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकरांसारख्या रसिकांना इतकी कांहीं आवडली कीं, त्यांनीं या कवितेचे निर्माते म्हणून माधवानुजांना कडकडून मिठी मारली.

दीपविसर्जन म्हणजे दिवे सोडणें.

पृ० ३० ओ० ६ मदीय + ईक्षणांची—माझ्या डोळ्यांची.

... .. ७ अंशुमाली—सूर्य.

... .. ८ यामिनी - रात्र.

.... ... १० अंतराल—आकाश.

... .. ११ तती—रांग.

... .. १२ उत्प्रेक्षा.

... ३१ ... १३ ते १६ आकाश आणि नदीचा प्रवाह यांतील साम्य चंद्रकोर व नौका आणि मेघखंड व वीचि म्हणजे तरंग यांच्या उपमांनीं दाखविलें आहे. कल्पनांत नावीन्य किंवा नटवेपणा नसला तरी सौहार्द आहे.

... ३१ ... २९ ते ३२ सार काढण्याची माधवानुजांची नेहमींची पद्धति.

... ३२ ... ३९ अर्थांतरन्यास.

... .. ४३ दीपसर्गप्रसंग—माधवानुजांना उत्सर्ग म्हणावयाचें आहे. उत्सर्ग म्हणजे दान किंवा त्याग. अर्थात् दीप-दानाचा किंवा दीप सोडण्याचा प्रसंग.

- पृ० २६ ओ० १३ व १७ बर्न्स स्वतः शेतकरी होता. त्याची उंदरावरील कविता.
- ... २७ ... २० अर्थान्तरन्यास.
- ... २१ पर्णकुटी अर्थात् बर्न्स शेतकरी असल्यामुळे त्याची राहण्याची जी झोपडी होती ती.
- ... २७ विषय-भूप्रदेश.
- ... २८ जन्मदाभूमि-स्कॉटलंड. बर्न्स तेथला.

## २. दगड फोडतांना :

१८९७ च्या दुष्काळांत गरिबांना अन्न देऊन सार्वजनिक कामे करून घेत. माधवानुज फिरतीवर असतांना खडी फोडणारी एक अशक्त व त्रस्त स्त्री त्यांनी पाहिली. त्या प्रसंगाने त्यांना टॉमस हूडची ' दी सॉग ऑफ दी शर्ट ' ही कविता आठवली असावी. तिच्यातील Stitch—Stitch—Stitch ' किंवा ' Work-Work-Work ' या ओळींच्या नमुन्यावर त्यांनी ' फुट्-फुट्-फुट् ' किंवा ' कुट्-कुट्-कुट् ' अशी रचना केली आहे. ती नादानुकारी, अर्थपूर्ण व परिणामकारक आहे.

पृ० २८ ओ० ९, १०, १७ व १८ यांतील कल्पना करुणरसाला पोषक आहेत.

... २३ ते २६ यांत उमेद खचलेली दाखविली नाही, हे विशेष आहे.

## ३. कृष्णाकोयनांचा संगम :

हा सुंदर संगम सातारा जिल्ह्यांत आहे. माधवानुजांचे हे गीत त्यांतील स्वाभाविक भावाविष्करणामुळे आणि साध्या गोड चालीमुळे एके काळीं अखिल महाराष्ट्रांत घरोघर पसरले होते.

पृ० २९ ओ० ६ सिकता-वाळू.

... ८ ते १० माधवानुजांचा तात्पर्य काढण्याचा स्वभाव.

... १० झष-मासे.

... १२ भवजल-संसारावर सरोवराचे अथवा सागराचे रूपक.

... ३० ... २१ अघ-पाप.

## ४. दीपविसर्जन :

पळसाच्या द्रोणांत फुलांच्या पाकळ्या पसरून त्यांत कणकेचा दिवा उजळावयाचा आणि त्यानें पुण्यपावन नदीला आरती ओवाळून मग तो द्रोण दिव्यासह नदीच्या प्रवाहांत सोडावयाचा, ही या देशांत प्राचीन प्रथा आहे. सायंकाळीं हें दृश्य फारच सुंदर दिसतें. तोरें, क्षेत्रें, सरितासंगम, वनस्पति इत्यादि निसर्गरमणीय दृश्यें पाहून माधवानुजांचें अंतःकरण आनंदानें उचंबळून येत असे. तीं त्यांना प्रसन्नतेचीं, पावनतेचीं आणि शांतीचीं द्योतकें वाटत. अशाच एका प्रसंगावर त्यांना ही कविता उत्स्फूर्त झाली आहे. विषय वेचण्यांत माधवानुजांची अभिरुचि कशी उच्च प्रतीची होती आणि सौंदर्यशोधनांत दृष्टि किती सूक्ष्म होती, तें या कवितेवरून लक्षांत येईल. ही कविता श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकरांसारख्या रसिकांना इतकी कांहीं आवडली कीं, त्यांनीं या कवितेचे निर्माते म्हणून माधवानुजांना कडकडून मिठी मारली.

दीपविसर्जन म्हणजे दिवे सोडणें.

- पृ० ३० ओ० ६ मदीय + ईक्षणांची—माझ्या डोळ्यांची.  
 ... ... ७ अंशुमाली—सूर्य.  
 ... ... ८ यामिनी—रात्र.  
 .... ... १० अंतराल—आकाश.  
 ... ... ११ तती—रांग.  
 ... ... १२ उत्प्रेक्षा.  
 ... ३१ ... १३ ते १६ आकाश आणि नदीचा प्रवाह यांतील साम्य चंद्रकोर व नौका आणि मेघखंड व वीचि म्हणजे तरंग यांच्या उपमांनीं दाखविलें आहे. कल्पनांत नावीन्य किंवा नटवेपणा नसला तरी सौहार्द आहे.  
 ... ३१ ... २९ ते ३२ सार काढण्याची माधवानुजांची नेहमींची पद्धति.  
 ... ३२ ... ३९ अर्थोतरन्यास.  
 ... ... ४३ दीपसर्गप्रसंग—माधवानुजांना उत्सर्ग म्हणावयाचें आहे. उत्सर्ग म्हणजे दान किंवा त्याग. अर्थात् दीप-दानाचा किंवा दीप सोडण्याचा प्रसंग.



#### ५. स्मशानगीत :

इंग्रजी वाङ्मयाच्या संपर्काने अर्वाचीन मराठी कवितेत Elegy म्हणजे विलापिका हा काव्यप्रकार आला. विलापिकेतील दुःख आत्मीय असावे आणि त्याचा शेवट तत्त्वचिंतनांत व्हावा असा संकेत आहे. तो सर्व विलापिकांत तंतोतंत पाळण्यांत येतोच असे नाही. प्रस्तुत विलापिका माधवानुजांनी एका लहान मृत बालकास अनुलक्षून लिहिली आहे. करुणरसाचे आविष्करण माधवानुजांना सहज साधे. तसें तें यांत आहे. पांचव्या कडव्यांत अल्प चिंतनहि आहे. या गीतांत कारुण्य (compassion) आहे. पृ० ३२ ओ० १ ते ३ मी अदय नाहीं पण कर्तव्य म्हणून तुला पुरतो. ... ३३... १८ मरुत्-वारा. ... २९ ते ३१ यांत माधवानुजांचें प्रेमल व कोमल अंतःकरण दिसते.

#### ६. गीतांजलि :

वृत्त : भूपतिवैभव.

विश्वकवि रवींद्रनाथ टागोरांच्या गीतांजलीतील पहिल्या गीताचा मूळ बंगालीवरून केलेला हा अनुवाद आहे. ही कविता गूढवादी असली, तरी सूचक आहे. जगाच्या बगीच्यांत जीवाचें फूल फुललें आहे. आयुष्याचा दिवस म्हणजे तारुण्य सरलें आहे. आयुष्याची संध्या म्हणजे वार्धक्य समोर आहे. फूल सुवासयुक्त किंवा मनोहर नाही म्हणजे जीवाच्या ठिकाणी कांहीं सद्गुण नाहीत. परंतु जीवाला ईश्वराच्या सेवेची इच्छा आहे. तेव्हां त्यानेच आपल्या हातानें हें तोडावें म्हणजे शेवटची मुक्ति द्यावी. माधवानुजांच्या शांत व गंभीर प्रकृतीला साजेसाच हा अनुवाद आहे.

पृ० ३४ ओ० १ सुमन शब्दावर श्लेष आहे. फूल किंवा चांगलें मन.

#### ५. चंद्रशेखर ( १८७१-१९३७ )

चंद्रशेखरांचें संपूर्ण नांव चंद्रशेखर शिवराम गोन्हे. त्यांचें घराणें नाशकाचें. तेथेंच २९ जानेवारी १८७१ ला त्यांचा जन्म झाला. त्यांचें मराठी शिक्षण गांवठी शाळेंत झालें आणि इंग्रजी शिक्षण नाशिक, चडोदे व पुणे येथील हायस्कुलांतून झालें. गणित विषय कच्चा असल्यामुळे

ते मॅट्रिक होऊं शकले नाहीत. नंतर त्यांनी धंदेशिक्षण घेण्याचा प्रयत्न केला. पण त्यांत त्यांना यश आलें नाहीं. शेवटीं ते बडोद्यास चीफ मेडिकल ऑफिसच्या कचेरींत कायमचे कारकून झाले. तेथें त्यांनीं ३४ वर्षे नोकरी केली व मग सेवानिवृत्त झाले. अखेरच्या दिवसांत सयाजीराव महाराज गायकवाडांनीं त्यांना राजकविपद देऊन गौरविलें होतें.

चंद्रशेखरांचा दत्तांशीं अकृत्रिम स्नेहसंबंध होता. दत्तांच्या अपमृत्यूमुळें त्यांना जबरदस्त धक्का बसला. चंद्रशेखरांची पहिली कविता १८९५ सालीं 'करमणुकी'त प्रसिद्ध झाली होती. त्यानंतर तीन तपें त्यांचें काव्य-लेखन अखंड चालू होतें.

राजकविपदाची प्राप्ति झाल्यावर चंद्रशेखर फार काळ जिवंत राहिले नाहीत. वार्धक्यांत त्यांना काळपुळी झाली आणि त्या आजारानेंच १७ मार्च १९३७ रोजीं त्यांचा बडोदें येथें अंत झाला.

चंद्रशेखरांनीं प्राचीन परंपरा कायम राखूनहि अर्वाचीन अभिनव अभिरुचीलाहि रुचेल अशी सरस व संपन्न कृति निर्माण केली आहे. त्यांची वृत्ति आत्मनिरपेक्ष होती. त्यामुळें त्यांनीं व्यक्तिगत अशा क्षुद्र भावनेचें आणि क्षुल्लक विचाराचें आपल्या काव्यांत स्तोम माजूं दिलें नाहीं. त्यांच्या कवितेंत अहंवाद व अंतर्मुखता नाहीं. परंतु वर्णनाची वेधकता आणि कथनाची कलाकुशलता आहे. त्यांची रचनाचातुरीहि अप्रतिम आहे. या तीन बावतींत त्यांचा हात धरणारा दुसरा कुणी कवि नाहीं. पुन्हा औचित्यविचार आणि आवश्यक संयम या दोन गुणांच्या अवलंबनामुळें त्यांचें काव्य कुठेंहि कंटाळवाणें झालेलें नाहीं.

चंद्रशेखरांचें सारें आयुष्य आपल्या व्यवसायांत आणि सवडीच्या वेळीं उपासिलेल्या कवितालेखनांत व्यतीत झालें. त्यांच्या मनावर उज्ज्वल, उदात्त व उदार वाङ्मयाचे संस्कार झाले होते. त्यांच्या अनेक कवितांना संस्कृत व इंग्रजी साहित्यांतील अभिजात कृतींचा आधार आहे. त्यांच्या कवितांचें स्वरूप भाषांतराचें नसून रूपांतराचें किंवा अनुवादाचें आहे. आणि हें स्वरूप इतकें विलोभनीय व आकर्षक आहे कीं, त्याचें मूळ अन्यत्र असावें हें चुकूनहि लक्षांत येत नाहीं. चंद्रशेखरांची रूपांतराची हातोटी बेमालूम व अनन्यसाधारण होती.



चंद्रशेखर १ मार्च १९०७ सालीं जळगांवास भरलेल्या पहिल्या कवि-संमेलनांत उपस्थित होते. त्यानंतर २० ऑक्टोबर १९२९ रोजीं मुंबई उपनगर जिल्हा साहित्यसभेच्या वतीनें विलेपार्ले येथें संमेलन भरलें होतें, त्याचे ते अध्यक्ष होते. आपल्या अध्यक्षीय भाषणांत पुढील विचार त्यांनीं मांडला आहे : ' सोहक वस्तूंचीं वर्णनें आणि संसारांत गुरफटून टाकणारे मनोभाव गोड तालसुरांत मजेदार चुटक्यांतून गाइल्यानें तुमची वाहवा-बोलवाला होईल; पण ती टेंभ्यावर उधळलेल्या राळेच्या भपक्याप्रमाणें क्षणिक असणार '.....त्यावरून त्यांच्या काव्याच्या स्वरूपावर सहज प्रकाश पडेल.

### चंद्रशेखरांचें काव्यवाङ्मय

१ चंद्रिका. २ उघडंड गुपित. ३ किस्मतपूरचा जमीनदार.

#### १. कविवर्य लेंभे यांची कविता :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

' She moves a goddess, she looks a queen ' या होमरच्या कल्पनेचा या कवितेस नाममात्र आधार आहे. चंद्रशेखरांच्या पूर्वीच्या पिढींत विठ्ठल भगवंत लेंभे हे प्रसिद्ध कवि होते. १८५० ते १९२० हा त्यांचा काळ. त्यांनीं सुरतरंगिणी, आनंदकंद व शोकावर्त हीं खंडकाव्ये रचलीं आहेत. यांपैकीं शेवटचें काव्य मृत पत्नीवरील विलापिका आहे. लेंभ्यांची रचना डौलदार आणि भाषा मधुर असे. त्यांच्या कवितेला अनुलक्षून चंद्रशेखरांनीं ही कविता लिहिली आहे. या कवितेस लेंभ्यांनीं डिसेंबर १९१६ च्या ' नवयुगां 'त उत्तर दिलें आहे:—

आर्य प्रेमळ चंद्रशेखर, तुम्ही लीलाभराल्हादिना  
केली धारण कौतुकें, सुकविता गंगारसस्यांदिनी  
हें वस्तुस्थल वैभव, प्रियजन प्रेमें मला लाघलें  
माझे दैव, जयें स्वयें, सहृदयाल्हादापुढें आणिलें.

पृ० ३५ ओ० १ ते ३ लेंभ्यांची कविता वाचण्याच्या आतुरतेचें काव्यमय वर्णन.

पृ० ३५ ओ० ४ सहज सुंदर उत्प्रेक्षा. शारदीय सकाळ उल्हसित व उत्साहित असते.

... .. ५ हंसाचें.....दाविति-हंसाच्या डौलदार चालीचें अनुकरण.

पदन्यास-पदांची म्हणजे कवितेच्या चरणांची रचना किंवा ठेवण.

... .. ८ लेंभ्यांच्या कवितेंतील आकर्षणच चुंबक असल्यामुळें रसिक चित्ताला इतर चुंबकमण्यांची गरज नाही.

... .. ९ व १० लेंभ्यांच्या कवितेंतील ओळी या झुळकीहून अधिक सुखदायक आहेत. व्यतिरेक व प्रश्न.

... .. १५ व १६ यांत कल्पना नाहीत. भावना आहेत.

... .. १८ शिराणी-उत्सव, आनंद, हौस पूर्ण होणें, समाधान.  
पृ० ३९ ओ० २१ ते २४ चंद्रशेखरांचा इतर कवींबद्दल आदर. त्यांचा निर्मत्सर व निर्मळ स्वभाव.

## २. रंगराव हर्षे :

मिल्टनच्या L'Allegro आणि Il'Penseroso या दोन प्रसिद्ध काव्यांची चंद्रशेखरांनी 'रंगराव हर्षे' आणि 'चितोपंत उदास' हीं दोन रूपांतरें केलीं आहेत. रंगेलपणा आणि उदासीनता या ज्या दोन सहज-प्रवृत्ति, त्यांचे दोन प्रतिनिधि मिल्टनने आपल्या दिव्य प्रतिभेने घडवले आहेत. त्यांना चंद्रशेखरांनी इतका बेमालूम मराठी मुलामा दिला आहे की, ते मूळचे परके असावेत असे वाटतहि नाही. यांपैकी 'रंगराव हर्षे'-मधील कांहीं ओळी येथे घेतल्या आहेत. But come, thou Goddess fair and free. . And by men, heart-easing Mirth इत्यादि मूळ इंग्रजीशी मराठी पंक्ति पडताळून पाहिल्या म्हणजे चंद्रशेखरांची रूपांतर-चातुरी नीट लक्षांत येते. उपर्युक्त दोन वृत्ति वेगवेगळ्या असल्या, आणि त्या एकत्र राहूं शकत नाहीत असे वाटले, तरी वस्तुतः त्यांचीं बीजे प्रत्येक माणसांत असतात. या दोन्ही वृत्ति क्रियापर आहेत. मात्र रंगेलपणा हा उथळ व बाहिर्मुख, तर उदासीनता ही खोल व अंतर्मुख असते. पाहिल्या वृत्तींत खरें सुख नाही, तर दुसरी ही आदरणीय व हितकर म्हणून

स्वीकरणीय आहे. पहिल्या २२ ओळीत हर्षाला कारणीभूत होणाऱ्या गुणांचीं नांवे व चुटपुटतीं वर्णनें आहेत.

पृ० ३६ ओ० १ ती तूं देवी म्हणजे आनंदी रंगेल वृत्ति.

पृ० ३६ ओ० ५ व ६ वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, व्याजस्तुति व श्लेष हे विनोदास पोषक अलंकार आहेत.

... ३७ ... २० परिचारकगण-सेवकगण.

पुढें ५६ व्या ओळीपर्यंत तन्हेतन्हेच्या वेषभूषांचें हुबेहूब वर्णन आहे. हे सर्व पेहेराव रंगेलपणाचे दर्शक आहेत.

पृ० ३८ ओ० ३९ ते ४४ यांत चंद्रशेखरांचा सूक्ष्म विनोद आणि मार्मिक टीका आहे.

पुढें १०० व्या ओळीपर्यंत मजलशीचें आणि तिच्यांतील रंगेल सभा-सदांचें विनोदपूर्ण वर्णन आहे.

पृ० ३९ ओ० ६९ व ७० होनाजी, सगनभाऊ व रामजोशी यांच्या लावण्या.

... ४० ... ८१ ते ९० हें विनोदपूर्ण रंगेल लोकांचें वर्णन आहे.

... .. ९४ नटी-नर्तकी.

... .... ९९ व १०० यांत मनुष्यस्वभावाचें मार्मिक दर्शन आहे.

३. गंगाद्वारीं भजन :

चंद्रशेखरांच्या 'गोदागौरव' या अपूर्व काव्यांतील हा एक पूर्ण उतारा आहे. यांत गोदावरीचा महिमा गाइला आहे. त्यांत कवीचें हार्द उतरलें आहे. तिच्यांतील भावगंभीर कल्पना पुण्यपावन आहेत आणि भाषा मधुर आहे.

पृ० ४१ ओ० २ 'सोऽहं' मंत्र- 'मी तोच आहे' ही आत्मस्वरूपाची जाणीव. तिचा मंत्र.

... .. ३ स्वानंदीं-ब्रह्मानंदांत.

... .. ४ भंग-भांग ( हिंदी शब्द )

... .. १० म्हणूनच गोदावरीला गौतमी असें नांव आहे.

... ४२ ... ३१ ते ४० गोदावरीच्या उगमाजवळील गंगाद्वारापार्शीं जें शतिल वातावरण आहे, तें यथें शब्दांत साकार केलें आहे.

पृ० ४३ ओ० ६४ पुनरपि . मरणं-हा चरण आचार्यींच्या चर्पट-पंजरींतील आहे. वर ओ. ४४ मधील कल्पनाहि तिच्यांतीलच आहे.

चंद्रशेखरांच्या मनावर झालेले जुन्या सांस्कृतिक वातावरणाचे संस्कार आणि जें जें पुण्यपावन असेल, त्या-त्याविषयींचा त्यांचा आदरभाव यांत प्रकट झाला आहे.

४. कारंजें :

वृत्त : बालानंद.

James Russel Lowel च्या Fountain चें हें भाषांतर आहे. चंद्रशेखरांना नवीन प्रकारची कविताहि प्रिय होती त्याचें हें उत्तम उदाहरण आहे. चाल नवीन प्रकारची आहे. कवितेचें रूपहि नवीन आहे. आंतील कल्पनांचा प्रकार देखील नवीन आहे. मात्र अखेरचें चिंतन थोडेंफार जुन्या पद्धतीचें आहे. कदाचित् त्यामुळेहि चंद्रशेखरांना ही कविता आवडली असावी आणि त्यांनीं तिचें भाषांतर केलें असावें.

पृ० ४५ ओ० ३१ व ३२ निरंतरीं-परमेश्वरांत; निरंतरीं-सदैव.

६. विनायक ( १८७२-१९०९ )

विनायकांचें पूर्ण नांव विनायक जनार्दन करंदीकर. १५ सप्टेंबर १८७२ रोजीं धुळे येथें त्यांचा जन्म झाला. त्यांचें प्राथमिक मराठी शिक्षण आणि स्कूल फायनलपर्यंतचें इंग्रजी शिक्षण तेथेंच झालें. त्या परीक्षेला आवश्यक असलेल्या गणित या विषयाशिवाय विनायकांना अगणित विषय येत असल्यामुळे त्यांचें शिक्षण येथेंच पूर्णविराम पावले. त्यांचे वडील बंधु बळवंत हे नामवंत कवि होते. त्यांच्याकडून विनायकांना कवितालेखनाचा ओनामा मिळाला.

विनायकांना आयुष्यांत स्थैर्य असें कधींच लाभलें नाहीं. शिक्षण थांबल्यावर आरंभीं त्यांनीं पोलिसखात्यांत नोकरी धरली. परंतु तेथें कांहीं बालंट आल्यामुळे त्यांना कांहीं काळ फरारी व्हावें लागले. पुढें ते कांहीं दिवस धरणगांवच्या मिशनमधील स्त्रियांना शिकवायला मराठी पंडित म्हणून राहिले. परंतु येथेंहि त्यांचें वास्तव्य अल्पकाळच टिकलें.



शेवटीं ते सावद्याचे श्रीमंत जहागिरदार अण्णासाहेब गंभीरराव देशमुख यांच्या वडिलांपाशीं कांहीं काळ राहिले. परंतु त्यांच्या स्वतंत्र प्रकृतीला तेथील वातावरण फार दिवस मानवलें नाहीं. तेथूनहि त्यांनीं लवकरच काढता पाय घेतला.

विनायकांची बुद्धिमत्ता तीव्र होती आणि हृदय अतिशय भावनामय होतें. परंतु त्यांच्या आयुष्याचा वराच काळ व्यसनाधीनतेत आणि अकारण भटकण्यांत गेला. टिळक व केशवसुत यांच्याप्रमाणें आधुनिक मराठी कवितेला नवें वळण लावण्याचें श्रेय विनायकांनाहि आहे. टिळकांचा धर्म-विचाराकडे, केशवसुतांचा समाजसुधारणेकडे तर विनायकांचा ओढा राष्ट्रवादाकडे होता. टिळकांचें 'केसरी' पत्र विनायकांचें आवडतें होतें. त्या काळच्या पारतंत्र्यांत राजकारणविषयक कविता उघड उघड लिहितां येणें शक्य नव्हतें. तेव्हां रूपकाच्या भाषेनें किंवा पर्यायोक्तीनें विनायकांनीं त्यासंबंधींचे आपले भाव प्रकट केले आहेत. विनायक आपल्या युगाचे प्रतिनिधि आहेत. त्यांच्या हयातींत ज्या ज्या प्रमुख राजकीय घटना घडल्या, त्या त्या घटनांचें उठावदार प्रतिबिंब त्यांच्या कवितेंत उमटलें आहे.

विनायकांपाशीं जसें भावविवश कवीचें तसेंच कलाकुशल नाटककाराचें अंतःकरण होतें. 'ध्यास तो भास', 'वीरमती', 'मोहानंतर' आणि 'गणिको-द्धार' या कथाकवितांत त्यांच्यातील थोर कलावंताची ओळख पटते. निवडक प्रसंग, त्यांची कौशल्यपूर्ण गुंफण, वेधक वर्णनशैली, ठळक शब्दचित्रें आणि भावानुगामी भाषा या गुणसमुच्चयामुळें त्यांचीं हीं कथाकाव्यें हृदयंगम झालीं आहेत.

विनायकांनीं 'प्रभावती' या नांवाचें एक राजकीय विचाराचें प्रभावशाली नाटक लिहिलें होतें. तें त्यांच्या पश्चात् नाट्यकलाप्रवर्तक मंडळीनें रंगभूमीवर आणलें. तें वसविण्यासाठीं ते धुळ्याहून पुण्याला गेले असतांना त्यांना पांच-सहा दिवसांतच तापानें पळाडलें आणि त्यांतच त्यांचा ३०-९-१९०९ रोजीं शेवट झाला.

राष्ट्रप्रीति हा विनायकांच्या कवितेंतला सर्वांत मोठा गुण आहे. पारतंत्र्यामुळें त्यांच्या अंतःकरणाला शतशः वेदना होत. तेव्हां आपला देश व आपले देशवांधव हे स्वतंत्र व सुखी व्हावेत, या हेतूनें त्यांना अनेक

कविता स्फुरल्या आहेत. या कविता म्हणतांना त्यांनी कित्येकदां राज्य-कर्त्यांवर तर कित्येकदां स्वजनांच्या अवगुणांवर प्रखर टीका केली आहे.

विनायकांचा स्वभाव स्वच्छंदी आणि वृत्ति आनंदी, आशावादी व विनोदी होती. त्यांच्या कवितेवर या त्यांच्या गुणविशेषांची छाया पडली आहे. त्यांच्या लेखणीत प्रसाद आहे आणि वाणीत प्रवाह आहे. त्यामुळे त्यांचीं काव्ये अनेकांच्या तोंडीं वसलीं आहेत.

## विनायकांचे वाङ्मय

### १. विनायकांची कविता.

#### १. हतभागिनी :

चाल : कधिं करिती लग्न माझे.

‘मासिक मनोरंजना’च्या मलपृष्ठावर दुर्दैवी हिंदमाता विलाप करित आहे आणि तिच्या आसपास जहाल, मवाळ, हिंदु, मुसलमान इत्यादि पक्षोप-पक्ष परस्परांत मारामाऱ्या करित आहेत, असे चित्र आले होते. ते पाहून विनायकांना ही कविता उत्स्फूर्त झाली. ऑगस्ट १९०१ च्या ‘मनोरंजना’त ‘दुर्दैवाची कहाणी’ या नावाने ही कविता प्रसिद्ध झाली होती.

हतभागिनी म्हणजे दुर्दैवी हिंदमाता. आरंभीच्या ४ कडव्यांत दास्य, दैन्य व दारिद्र्य या तिच्या दारुण दुःखांचे कारुण्यपूर्ण वर्णन आहे. ५ व्या कडव्यांत तिला वैभवाच्या शिखरावर बसविणाऱ्या वीरपुत्रांचा प्राचीन इतिहास आहे. ६ व्या व ७ व्या कडव्यांत पक्षोपपक्षांच्या कलहावर जळजळीत टीका आहे. आणि शेवटच्या कडव्यांत निराशेचा सुस्कारा आहे. ‘प्रजा हाच की वत्स भूधेनुकेचा’ या चरणावरून ८ व्या कडव्यांतील गाईची कल्पना सुचली असावी.

पृ० ४७ ओ० २४, २५ गाय गाळीं फसे म्ह. चिखलांत रुतलेली गाय अधिकाधिक खाली खाली जात आहे.

#### २. विरही :

चाल : कधिं करिती लग्न माझे.

हे एक विप्रलंभात्मक प्रणयपर भावगीत आहे. कवितेत भावना आणि तीहि वैणिक असावी, ही जी त्या काळी नवी कल्पना कवितेच्या



क्षेत्रांत प्रसृत होत होती, तिचें हें गीत उदाहरण आहे. तें आत्मपर आहे असें वाटतें. पहिल्या दोन कडव्यांत मनोलेखन आहे. तिसऱ्यांत प्रियेचें वर्णन आहे. चवथ्यांत व पांचव्यांत तिचें स्मरण आहे. सहाव्यांत व सातव्यांत मनोमय स्वप्न आहे. त्यांतील चिंतनाच्या दोल्यावर मन झोके घेऊं लागलें आणि मी भुंगा असतो तर वाऱ्याच्या वाहनावर बसून तुझ्या-कडे आलों असतो आणि तुला भेटलों असतो, या कल्पना काव्यदृष्ट्या रमणीय व स्मरणीय आहेत. प्रियेला 'वनमाले !' हें संबोधन दिलें आहे, तें काव्यमय नाहीं असें कोण म्हणेल ? आठव्या कडव्यांत ध्यानसमाधीचा भंग व चुटपुटती निराशा आहे.

### ३. सोंगटीचा खेळ :

जाति : सूर्यकांत.

परतंत्रतेंत तत्कालीन राजकीय परिस्थितीवर उघडपणें कविता लिहिणें अशक्य असल्यामुळें १९०६ च्या रूसो-जपानी युद्धावरील ही कविता सोंगटीच्या पांघरुणाआड लिहिली आहे. आणि अधूनमधून अध्यात्मां-तील भाषा योजिली आहे. चवथ्या कडव्यांत सूचकता आहे. हिरवी सोंगटी म्हणजे रशिया, पिवळी जपान, लाल ग्रेट ब्रिटन आणि काळी म्हणजे हिंदुस्थान. पांचव्या कडव्यांत ग्रेट ब्रिटनचा आक्रमक स्वभाव दाखवला आहे. सातव्या कडव्यांत कवीचा आशावाद प्रकट झाला आहे.

### ४. प्रोफेसर छत्र्यांचा केसरी :

जाति : अकूर.

मूळ तासगांवकडील असणारे विष्णु मोरेश्वर छत्रे यांनीं प्रथम महाराष्ट्रांत सर्कशीचा धंदा चालवला. त्यांच्या सर्कशींतील आवडाबाई या नांवाची नटी सिंहाशीं वाटेल तो खेळ खेळावयाची. प्रोफेसर छत्र्यांच्या सर्कशींत स्वतंत्र केसरी अशा रीतीनें परतंत्र झालेला पाहून विनायकांचें स्वतंत्र अंतःकरण उद्विग्न झालें. त्यांत त्यांना स्वतःच्या परतंत्र देशाची पडछाया दिसली. तेव्हां सर्कशींतील सिंहाच्या पडद्याआड त्यांनीं स्वत्व विसरलेल्या हिंदु-स्थानाला उद्देशून ही तेजस्वी विचाराची व ओजस्वी वाणीची कविता लिहिली आणि ती टिळकांच्या 'केसरी'त प्रसिद्ध केली.

पृ० ४९ ओ० ३ व ४ यांत भारताची थोर प्राचीन विचारपरंपरा आणि पराक्रम यांची सूचकता आहे.

- ... ४ धैर्यावर चेतनारोपोक्ति.  
 ... ५० ... ५ नाग-हत्ती.  
 ... ९ कपट्यांच्या हातां म्हणजे इंग्लंडच्या तावडींत.  
 ... ११ प्रतोदाघात-चाबकांचे फटकारे.  
 ... .... भीसी श्वासा दृक्पाता-म्हणजे रिंगमास्टरने नुसता सुस्कारा टाकला किवा डोळ्याने इशारा केला तरी तुझी घाबरगुंडी उडते. गुलामागिरींत तू इतका लाचार झाला आहेस.

पृ० ५० ओ० १६ पाणी-पराक्रम.

- ... १७ या ठिकाणी एक महत्त्वाचें त्रिकालाबाधित सत्य सांगितलें आहे.  
 ... १८ व १९ यांत आक्रमणशील व अत्याचारी मानवसमाजावर टीका आहे. विनायकांना ग्रेट ब्रिटन अभिप्रेत आहे.  
 ... २२ दीप्त महाल-पेट्रोमॅक्सच्या प्रकाशांतील सर्कसचा तंबू.

## ५. गणेशपूजा :

जाति : भूपाळी.

महाराष्ट्रांत लोकमान्य टिळकांनी सार्वजनिक गणेशोत्सवाची प्रथा सुरू केली होती. १८९७ मध्ये धुळ्यास प्लेग असल्यामुळे लोक रानांत झोपड्या बांधून राहत होते. तेथेच गणेशोत्सव झाला. त्या साली पुण्यास रँड व आयस्ट या दोघां अधिकाऱ्यांचे खून पडले होते. संशयावरून टिळकांना अटक झाली होती. पुढे चापेकर गुन्हेगार म्हणून फांसी गेले. या साऱ्या घटना विनायकांनी या कवितेत मोठ्या खुत्रीने गोवल्या आहेत.

पृ० ५० ओ० १ रोगें पीडित-अर्थात् प्लेगनें दूषित.

- ... ५१ ... ६ या वेळीं कापडकर वाढला होता, त्यावर ही टीका आहे.

- पृ. ५० ओ० ७ यांत लोकमान्य टिळकांच्या अनुपस्थितीचा खुबीदार उल्लेख आहे.
- ... .... ९ यांत चापेकरांचा उल्लेख आहे.
- ... ... ११ हा उल्लेख पंजाबांत एका गोन्या अधिकाऱ्यानें अत्याचार केला, त्यास उद्देशून आहे.
- ... ... १५ परदेशी मालाच्या बहिष्काराची चळवळ या वेळीं सुरू झाली होती.

विनायक स्वकालीन परिस्थितीशीं कसे समरस होत, तें यावरून दिसतें.

### ६. चिमा :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

ही विनोदी कविता चिलमेला उद्देशून आहे. चिमा म्हणजे चिलीम.

पृ० ५२ ओ० १० चिर-चिरगूट, चिंधी.

... .. ११ सुकीं पाने-तंबाखू.

### ७. Bee ( १८७२-१९४७ )

‘ बी ’ यांचें व्यावहारिक नांव नारायण मुरलीधर गुप्ते. यांचा जन्म १८७२ मध्ये वऱ्हाडांत जिल्हा बुलढाणा गांव मलकापूर येथें झाला. यांचे वडील वऱ्हाडांत यवतमाळ व वणी येथें वकिली करीत. तेव्हां ‘ बी ’-चें प्राथमिक शिक्षण यवतमाळ येथें आणि पुढील इंग्रजी शालेय शिक्षण अमरावतीस झालें. परंतु वाडिलांच्या आकस्मिक मृत्यूमुळे त्यांना तें मॅट्रिक-पाशींच सोडून सरकारी कोर्टांत कारकून व्हावें लागलें.

सरकारी नोकरीच्या निमित्तानें ‘ बी ’ ना वाशीम, मूर्तिजापूर, अकोला इत्यादि ठिकाणीं हिंडावें लागलें. पण त्यांच्या जीवनाचा फार मोठा काल अकोला येथेंच गेला. तेथेंच ते सरकारी नोकरीतून निवृत्त झाले.

वयाच्या १८ व्या वर्षीं ‘ बी ’ना कवितालेखनाची प्रथम स्फूर्ति झाली. १८९१ मध्ये ‘करमणुकी’त ‘प्रणय-पत्रिका’ ही त्यांची कविता प्रसिद्ध झाली. त्यानंतर कांहीं काल ते गद्यलेखन करीत होते. कवि या नात्यानें त्यांची खरी प्रसिद्धि १९११ च्या जुलैच्या ‘मासिक मनोरंजनांत’

‘वेडगाणें’ ही कविता आल्यावर झाली. वस्तुतः गोविंदाग्रज, बालकवि व रेंदाळकर यांच्यापेक्षां ते वयानें वडील होते. परंतु प्रज्ञेची परिणति झाल्यावर त्यांनीं कविता प्रसिद्ध करण्यास प्रारंभ केला. त्यामुळें त्यांची गणना वयानें कनिष्ठ असणाऱ्या या कवींविरोबर होत असते.

सेवानिवृत्तीनंतर ‘बी’ हे कांहीं काल नागपुरास होते. पुढें ते छिंद-वाड्यास गेले. तेथें असतांना १९४६ च्या सुमारास त्यांच्या प्रतिभेला पुन्हां नव्यानें बहर आला होता. मध्यंतरीं वीस-बावीस वर्षे स्थगित झालेलें कवितालेखन त्यांनीं पुन्हा नव्या जोमानें व ताज्या दमानें सुरू केलें होतें. परंतु वार्धक्यामुळें लवकरच म्हणजे ३०-८-१९४७ रोजीं त्यांचा अंत झाला.

‘बी’ची कविता तोलानें कमी पण मोलानें भारी आहे. उगीच भराभर व भाराभर त्यांनीं लिहिलें नाहीं. वैचारिकता हा त्यांच्या कवितेचा आत्मा आहे. पुन्हां या वैचारिकतेत कोठेंहि विसंवाद, विसंगति अथवा विरोध नाहीं हें विशेष आहे. ‘बी’नीं कांहीं इंग्रजी कवितांचीं भाषांतरे केलीं आहेत. क्वचित् संस्कृत व इंग्रजी साहित्यांतील कांहीं विचारांवर व कल्पनांवर काव्यमय भाष्ये केलीं आहेत. कांहीं कवितांतून त्यांनीं आपला काव्यासंबंधींचा दृष्टिकोण व्यक्त केला आहे. काव्याचा आनंद हा अपूर्व आहे; तो जड अशा बाह्य ज्ञानेंद्रियांना आकलन करतां येणें शक्य नाहीं; निर्विकल्प होऊन आणि विषयांपासून अलिप्त राहून मृदुल अशा मनानेंच तो लुटला पाहिजे, असें त्यांचें मत होतें. त्यांचा आध्यात्मिक वाङ्मयाचा अभ्यास गाढा होता. त्यामुळें त्यांच्या बऱ्याच कवितांवर त्या विचारांची छाप पडली आहे. विषय कठिण, शब्द जुन्या मराठी वाङ्मयांतून वेचलेले आणि थोडक्यांत पुष्कळ अर्थ सांगण्याचा प्रयत्न केलेला. त्यामुळें त्यांचें काव्य क्वचित् क्लिष्ट झालें आहे.

### ‘बी’चें काव्यवाङ्मय

१. फुलांची ओंजळ आणि पिकलें पान.

१. दीपज्योतीस :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.



ही कविता वास्तविक दीपज्योतीला उद्देशून नाही. तिच्या पडद्याआड कवीने सक्तीचे वैधव्य कंठिणाच्या युवतीला निसर्गाच्या नियमाची जाणीव करून दिली आहे. निसर्गनियमानुसार जीवमात्राला विकास असतो. त्याला अनुसरणे म्हणजेच जिवंत राहणे होय. निसर्गाच्या नियमाविरुद्ध वागल्यास वाढ खुंटते आणि नष्टचर्य ओढवते. निसर्गाने दिलेल्या शक्तीचा जे उपयोग करतात ते वाढतात आणि जगतात. जे त्या शक्तीचा उपयोग करीत नाहीत, ते खुरटतात आणि नाहीसे होतात. स्त्रीच्या ठिकाणी प्रसवशक्ति आहे. ती नष्ट होतां किंवा वाया जातां कामा नये.

पृ० ५३ ओ० १ सोन्याची तनु आणि पाषाणमूर्ति हे शब्द अनुक्रमे स्त्रीचा उपयुक्त जन्म आणि निष्ठुर देवधर्म यांचे व्यंजक आहेत.

... .. ४ निष्कंप-विरागपूर्ण.

... .. ७ ते १२ डार्विनच्या विकासवादानुसार हा विचार व्यक्त केला आहे. 'बी'नीं विधवांची समस्या पुढे मांडतांना भावनेपेक्षां विचाराला आवाहन केले आहे.

... .. १५ घरटी-मोठ्या जात्यांत.

... .. ५४... २३ डार्विनच्या विकासवादांत use und disuse हा विचार महत्त्वाचा आहे. निसर्गाने दिलेल्या शक्तीचा उपयोग केला नाही तर ती नष्ट होते किंवा झडून जाते. ( उदा. कांगारूचे पुढील पाय व शहामृगाचे पंख. )

## २. चांफा :

चाल : झोका देऊं या.

हे एक अक्षरसंख्याक छंदांत रचलेले प्रेमगीत आहे. चांफा हा एका प्रेमिकाचे प्रतीक आहे. त्याच्यावर अनुरक्त असणारी एक प्रिया तो प्रसन्न व्हावा यासाठी प्रयत्नांची पराकाष्ठा करते. परंतु तो कांहीं केल्या प्रसन्न होत नाही. कारण त्याला अशाश्वत असे पार्थिव प्रेम नको असते. तो शाश्वत अशा अपार्थिव प्रेमासाठी आसुसलेला असतो. ते मिळतांच तो प्रसन्न होतो आणि प्रेम सुफलित होते.



पहिल्या ३ कडव्यांत प्रियेने प्रियकराला रिझविण्यासाठी जे उपाय योजिले, त्यांचे वर्णन केले आहे. नंतर ६ व्या कडव्यापर्यंत कडा व नदी, मेघ व वीज आणि वायु व कलिका या युगलांच्या प्रणयक्रीडेचे वर्णन आहे. ही युगले कल्पितांना बीनी व्याकरणाच्या दृष्टीनेहि लिंगविचार केला आहे. त्यामुळे कल्पना विशेष सरस झाली आहे. यापुढील तीन कडव्यांत प्रियेने प्रत्यक्ष त्याला प्रणयातुर करण्याचा यत्न केला आहे. परंतु दहाव्या कडव्यांत ती जेव्हा आपण इतरेजनांप्रमाणे विषयांचे किडे नसून शुद्ध प्रेमाच्या रसाचे पान करणारे आहोत, अशी त्याची खात्री पटवते, तेव्हा तो फुलतो. पुढे प्रणयपूर्तीचे थोड्या शब्दांत केलेले भव्य व दिव्य वर्णन आहे.

### ३. तीव्र जाणीव :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

ही कविता 'मनोरंजना'च्या नोव्हेंबर १९१७ च्या अंकांत आली होती. तेव्हा तिच्यावर टीपा होती : 'सुस्थितीत असलेल्या प्रत्येक राष्ट्रस शांततेचे संग्राम प्रत्यही करावे लागतातच. या उद्यांच्या स्थितीत आमच्या समाजाची काय वाट होईल ?'

कालाच्या ओघांत भारतीय संस्कृतीत जे अन्याय्य जातिभेद व जी जाचक सामाजिक विषमता निर्माण झाली आहे, तिच्यामुळे सर्व समाज-व्यवस्था जीर्ण व खिळखिळी झाली असून ती पुन्हा नव्याने करणे व सुधारणे आवश्यक आहे, असा उदार विचार या कवितेत 'बी'नी मांडला आहे. पृ० ५६ ओ० १४ धांगडी-बळकट.

...५७ ओ० १९ व २० परिस्थिति आपोआप काळाच्या ओघांत निर्माण होत असली, तरी ती तशी व्हावी याकरिता मानवी प्रयत्नहि आवश्यक असतो. निसर्ग, काळ व मनुष्य तिघांचा सहकार आवश्यक आहे.

पृ० ५७ ओ० २३ व २४ बीनी ही कविता लिहिल्यानंतर तेरा वर्षांनी अस्पृश्यतानिवारणाच्या चळवळीला राजकीय स्वरूप प्राप्त झाले.

- पृ० ५७ ओ० २५ स्त्रियांच्या सर्वांगीण परवशतेला उद्देशून. पण आतां ही स्थिति पालटत आहे.
- ... .. २९ व ३० या ओळींत समाजांतील वरिष्ठ वर्ग, पुरुष आणि परके राज्यकर्ते या सर्वांवर मार्मिक टीका आहे.
- ... .. ३३ ते ३५ या ओळींच्या मुळाशी लोवेलच्या पुढील ओळी असाव्यात :—

They are slaves who dare not speak  
For the fallen and the weak  
They are slaves who dare not be  
In the right with two or three

#### ४. काव्यानंद :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

या कवितेंत काव्याचें सामर्थ्य, स्वरूप आणि आनंद यांचें थोडक्यांत पण प्रभावोत्पादक वर्णन आहे. दैत्यांची शक्ति, मारुतीचें उड्डाण, सूर्याची गति व वृहस्पतीचें वाग्वैभव—या सर्व गोष्टी काव्याच्या सामर्थ्यापुढें सामान्य आहेत. काव्याचा खरा आनंद उपभोगावयाचा असेल, तर मन निर्विकल्प करून मग तो घेतला पाहिजे.

पृ० ५८ ओ० ९ ते १२ 'जे शब्देंवीण संवादिजे । इंद्रिया नेणितां भोगिजे । बोलांआधीं झोंबिजे । प्रमेयासी ॥' इत्यादि ज्ञानेश्वरीच्या पहिल्या अध्यायांतील ओव्या पाहा.

#### ५. पिकलें पान :

जाति : दिंडी.

वीस-बावीस वर्षांच्या विरामानंतर वार्धक्यांत 'बी'ना पुन्हां काव्यस्फूर्ति झाली होती. त्या वेळचें हें आत्मलेखन अत्यंत भावनोत्कट उतरलें आहे. आपण वृद्ध झालों, आतां पूर्वीचा 'रस' कुठून राहणार, अशी त्यांत जाणीव आहे. पण 'रस' जितका जुना व मुरलेला तितका अधिक गोड हा जगाचा अनुभव आहे. तोच हें गीत वाचतांना पुन्हां प्राप्त होतो.

## ८. भास्कर रामचंद्र तांबे ( १८७४-१९४१ )

तांबे यांचा जन्म २७ नोव्हेंबर १८७४ रोजी ग्वाल्हेर संस्थानांतील मुगावली या गांवी झाला. त्यांचे घराणे मूळचे रत्नागिरी जिल्ह्यांतील खेटकुई या गांवचे. ते गोविंदपंत बुंदेल्यांबरोबर उत्तरेकडे आले. तांब्यांचे प्राथमिक शिक्षण कांहीं मराठीतून व कांहीं हिंदीतून मुगावली व देवास येथे झाले. आणि हायस्कूलचे इंग्रजी शिक्षण उज्जयिनी व देवास येथे पार पडले. १८९३ साली मॅट्रिकची परीक्षा प्रथमश्रेणीत पास होऊनहि तांब्यांना घरच्या प्रतिकूल परिस्थितीमुळे विद्यालयीन शिक्षण घेतां आले नाही. विद्यार्थीदशेपासूनच काव्य हा विषय त्यांच्या आवडीचा होता. तेव्हां विद्यालयीन शिक्षणाची उणीव त्यांनी घरीच खासगी रीतीने मम्मट, विश्वनाथ, दंडी आदि संस्कृत साहित्यशास्त्रकारांचा व ब्रुक, आर्नोल्ड, ब्राडले, हडसन् आदि इंग्रजी आलोचकांचा अभ्यास करून भरून काढली. संस्कृत वाङ्मयांतील अभिजात कवि, प्राचीन मराठी कवि आणि इंग्रजी वाङ्मयांतील शेक्सपिअर, वर्डस्वर्थ, कोलरिज, बायरन्, शेले, कीट्स्, टेनिसन व ब्राउनिंग या नव्या-जुन्या कवींच्या कविताकृतींचे त्यांनी मार्मिक परिशीलन केले. तांब्यांना काव्यस्फूर्तीबरोबरच जी मार्मिक रसग्रहणाची दृष्टि लाभली, तिचे मूळ त्यांच्या या विद्याव्यासंगांत आहे.

१८९४ साली तांब्यांनी देवासचे राजपुत्र खासेराव पवार यांचे शिक्षक म्हणून नोकरी धरली. ते इंदुरास कॉलेजांत शिकत असतांना तांबे त्यांचे पालक म्हणून राहिले. इंदूरचे वातावरण तांब्यांच्या प्रकृतीला मानवले. तेथेच त्यांनी वाङ्मयाचा पायाशुद्ध अभ्यास केला, निरनिराळ्या साहित्यिकांशी चर्चा केल्या आणि संस्कृत व इंग्रजी वाङ्मयांतील कवितांच्या अनुकरणाने अनेक सरस व सुंदर कविता लिहिल्या. इंग्रजी साहित्याचा व्यासंग चालू असतांना सॉनेट या काव्यप्रकाराची अपूर्वाई त्यांच्या ध्यानांत आली होती. यापूर्वी केशवसुतांनी हा प्रकार मराठीत रूढ करण्याचा प्रयत्न केला होता. त्यांना तांब्यांनी हातभार लावला. तांब्यांचे ' गेली ज्योति विज्ञोनियां ' हे सुनीत ऐकून केशवसुतांनी रहाळकरांजवळ ' तांबे हे जिवंत वाणीचे निसर्गकवि आहेत ' असे उद्गार काढले होते.

-१९०९ ते १९१७ या अवधीत तांब्यांनीं गुदरखेडा, पिप्लोदा व प्रतापगढ या तीन ठिकाणीं शासनाच्या निरनिराळ्या अधिकारांच्या जागां-वर कामें केलीं. या अवधीतील त्यांचें कवितालेखन अत्यल्प आहे. याचें एक कारण असें कीं, त्यांना जीं कामें मिळालीं तीं त्यांच्या वृत्तीला अनुकूल अशीं नव्हतीं. दुसरें असें कीं, या ठिकाणीं त्यांना इंदूरप्रमाणें समान-धर्मे असे कोणी सोबती भेटले नाहींत. आणि तिसरें असें कीं, स्वतःला एखादी कविता स्फुरली तरी ती टिपून जपून ठेवण्याच्या बाबतीत ते सुरुवातीपासूनच निष्काळजी होते.

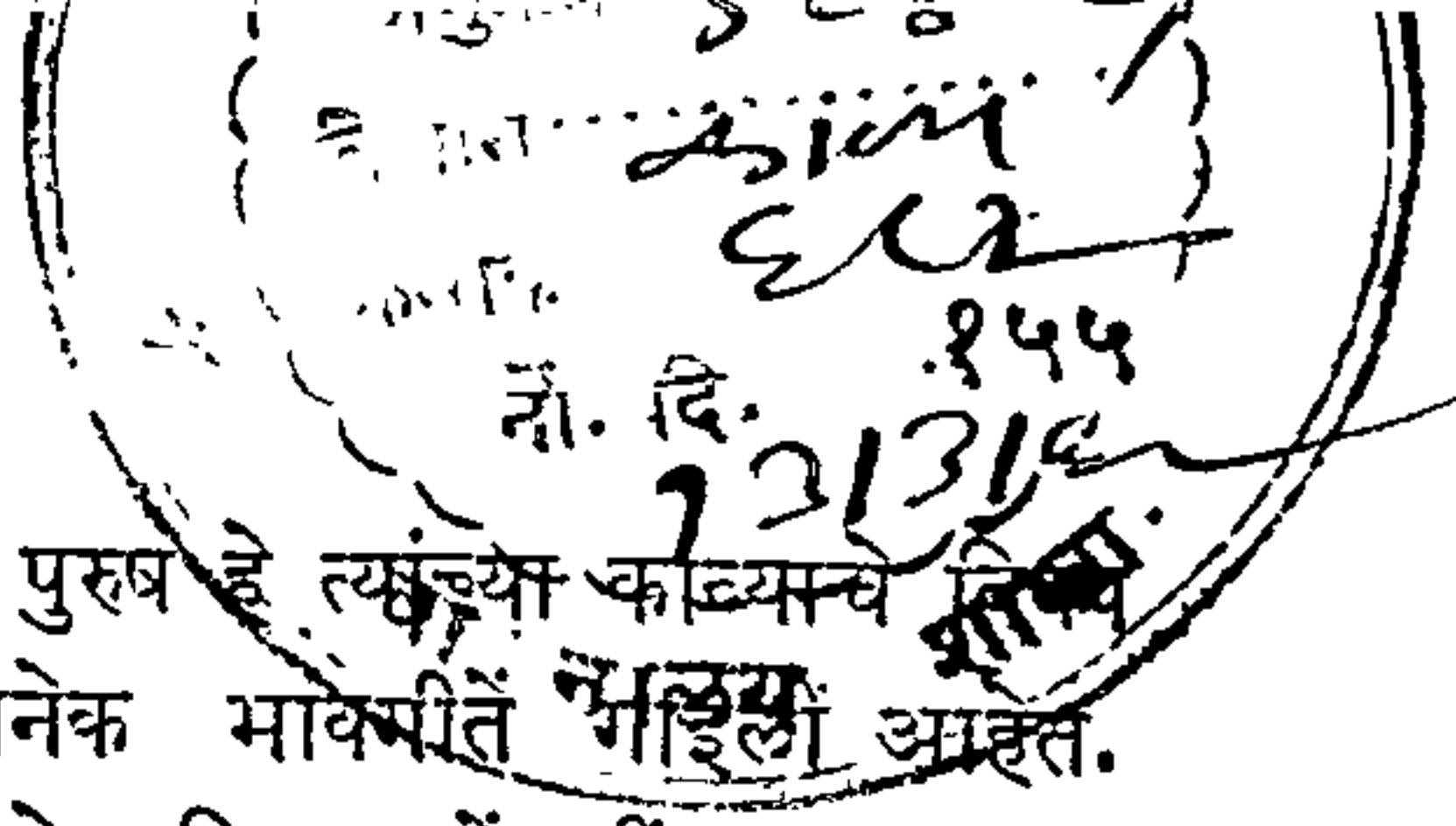
१९२० सालीं प्रतापगढ सुटलें आणि कांहीं काल तांबे इंदूर येथें राहिले. नंतर त्यांना अजमेरास मेयो कॉलेजांत ग्वाल्हेर संस्थानांतील सरदारपुत्रांचे शिक्षक व पालक म्हणून नोकरी मिळाली. १९२३ पर्यंत ते अजमेरास होते. प्रतापगढ व अजमेर येथील वास्तव्यांत तांब्यांच्या कवितेला अभूतपूर्व बहर आला होता. त्यांच्या बहुतेक प्रसिद्ध व लोकप्रिय कविता त्यांनीं या अवधीतच रचल्या आहेत.

१९२३ नंतर तांबे शिवपूर-बडोदा येथें आणि त्यानंतर खास ग्वाल्हेर येथें शिक्षणखात्यांत रजिस्ट्रार ऑफ एक्झामिनेशन्स म्हणून राहिले. १९२७ सालीं इंदूर येथें भरलेल्या मध्यभारतीय कविसंमेलनाचें आणि १९३२ सालीं कोल्हापूर येथें महाराष्ट्र साहित्य संमेलनाच्या अंतर्गत भरलेल्या कविसंमेलनाचें अध्यक्षपद त्यांच्याकडे होतें. १९३७ मध्ये ते सेवानिवृत्त झाले. त्यापूर्वी ग्वाल्हेरच्या अधिपतींनीं त्यांना 'राजकवि' ही पदवी देऊन आणि मासिक नेमणूक करून त्यांचा गौरव केला होता. ७ डिसेंबर १९४१ रोजीं दम्याच्या विकारानें त्यांचा ग्वाल्हेर येथें अंत झाला.

उत्तरेकडील हिंदी मुलखांत आणि संस्थानी वातावरणांत जीवन व्यतीत झाल्यामुळे तांब्यांच्या लेखणीवर व वाणीवर त्या ठिकाणचे संस्कार झाले आहेत. सर वॉल्टर स्कॉटप्रमाणें तांब्यांनींही कांहीं कविता संस्थानी वाता-वरणाच्या पार्श्वभूमीवर लिहिल्या आहेत. त्या त्यांच्या अनुभवामुळे उत्कृष्ट उतरल्या आहेत.



## टीपा



तांबे हे कौटुंबिक कवि होते. स्त्री व पुरुष हे त्यांच्या कव्याचे विषय होते. या दोघांतील प्रणयावर त्यांनी अनेक भावगीते लिहिली आहेत. त्याला त्यांनी रसानुकूल रागरागिणींची जोड दिल्यामुळे ती खऱ्याखऱ्या अर्थाने भावगीते म्हणून सार्थ झाली आहेत.

आधुनिक मराठी कवितेला नाट्यगीत हा प्रकार तांब्यांनी दिला. व्यक्तीच्या अंतरंगांत मुकाट्याने प्रवेश करून त्याच्या गुप्त, लुप्त व सुप्त भावना जागृत करण्याची जादू तांब्यांना उत्तम रीतीने साधली होती. त्यांनी निर्माण केलेल्या व्यक्ति भावनेच्या अनुषंगाने चालतात, बोलतात व हालतात. त्यांच्या मनाचे एक एक पापुद्रे हळुवार हाताने उकलण्यांत तांब्यांनी कमाल केली आहे. या प्रकारच्या सर्व गीतांतील शब्दचित्रे इतकी उठावदार आहेत की, यांना कविता म्हणावे की चित्र म्हणावे, असा संभ्रम उत्पन्न होतो. पुन्हा या व्यक्तिचित्रांना स्वतंत्र सूर आहेत. अशा रीतीने तांब्यांनी चित्र, साहित्य व संगीत या तिन्ही कला एकत्र आणल्या आहेत. त्यांच्या कविता हातवारे करून गाव्या लागतात, म्हणजे तात्काळ त्यांचा परिणाम होतो.

तांब्यांच्या व्यक्तिचित्रांत विविधता आहे. त्यांत लहानसहान मुलांपासून तों म्हाताऱ्याकोताऱ्यांपर्यंत सारीं माणसे समाविष्ट झाली आहेत. भाव एक असला, तरी विविध व्यक्तित्वामुळे तांब्यांचीं गीते कंटाळवाणीं अथवा ठराविक ठशाचीं झालेलीं नाहीत.

तांब्यांनी निव्वळ निसर्गावर अशा कविता रचलेल्या नाहीत. मानव हा निसर्गाचा उपभोक्ता. तेव्हां तो जर नसेल, तर निसर्गाला महत्त्व नाही, असे त्यांचे मत होते. त्यामुळे त्यांनी मानवाच्या चित्रांना उठाव देण्याकरितां पार्श्वभू म्हणून निसर्गाचा उपयोग केला आहे.

तांबे हे प्रथमपासूनच कलावादी होते. कला हेच साधन व कला हेच साध्य आणि प्रत्येक कला ही मूलतःच मंगलमय असते, असे त्यांचे मत होते. काव्य आणि तत्त्वज्ञान यांतील भेद ते दृष्टीआड होऊं देत नसत. काव्य हे संश्लेषणात्मक तर तत्त्वज्ञान हे विश्लेषणात्मक असते, याची त्यांना जाणीव होती. म्हणूनच त्यांनी निव्वळ तात्त्विक अशी कविता लिहिली नाही. तत्त्व हे जितके काव्यमय करतां येईल तितके करण्याकडे त्यांचे लक्ष असे.



त्यामुळे त्यांच्या कवितेत सांगण्यासारखे फारसे काहीं नसे किंवा जे सांगण्या-सारखे असे ते पालुपदांतच संपत असे, हा आक्षेप घेणे व्यर्थ आहे.

तांब्यांची गूढगीते सूचक आहेत. गूढता म्हणजे दुर्बोधता नव्हे, हे त्यांनी लक्षांत घेतले होते. त्यामुळे हीं गीते त्यांनी ध्वन्यर्थाने अथवा व्यंग्यार्थाने रचली आहेत.

तांब्यांची रचना क्वचित् सैल आणि शब्द क्वचित् गांवढळ आहेत. परंतु त्यांच्या एकंदर काव्यांत जी रसधारा प्रवाहित झालेली आहे, तिच्यामुळे ते दोष दुर्लक्षित होतात.

तांबे प्रकृतीने अशक्त असले, तरी वृत्तीने आनंदी व आशावादी होते. त्यांच्या गीतांत कोठेहि वैफल्याचे, नैराश्याचे अथवा व्यक्तिगत दुःखाचे सूर ऐकू येत नाहीत.

### तांब्यांचे काव्यवाङ्मय

१. तांबे समग्र कविता. २. राजकवि तांबे यांचा पत्रव्यवहार. ३. तांबे व्यक्ति व कला ( यांतील तांब्यांचे गद्यलेख ).

#### १. कुणु कोडे माझे उकलिल का ?

जाति : प्रणयप्रभा.

पतिपत्नींमधील सहसंवेदनावर या गीताची उभारणी झाली आहे. केवळ विवाहांतील विधि अथवा मंत्र यांमुळेच या दोन जीवांचा एकजीव होत नाही, तर त्यास परस्परप्रेम कारण असते, हे तत्त्व यांत काव्यमय केले आहे. ते करतांना प्रारंभापासून अखेरपर्यंत असंगति अलंकाराची समुचित माला गुंफली आहे.

पृ० ६० ओ० २ शास्त्री म्हणजे शास्त्रज्ञ, वैज्ञानिक.

#### २. घट भरे प्रवाही बुडबुडुनी :

जाति : प्रणयप्रभा.

हे ग्रामीण वातावरणाच्या पार्श्वभूमीवर रेखलेले एक सुंदर शब्दचित्र आहे. ते वाचतांना टेनिसनच्या 'एनांक आर्डन'मधील

Who sets her pitcher

As village girl underneath the spring

Musing on him that used to fill it for her  
Hears and not hears and lets it overflow

या ओळींची आठवण होते. एक प्रणयिनी आपल्या प्रियकराची प्रतीक्षा करीत आहे, हें प्रत्येक कडव्याच्या शेवटी सूचित केले आहे.

पृ० ६३ ओ० ५

प्रमदा-सुंदर स्त्री.

... .. ११

सळ डोळ्यांवर म्हणजे दूरवर दृष्टि टाकीत असतांना डोळ्यांच्या कोपऱ्यांचें जें आकुंचन होतें तें:

या कडव्यांत ध्वनि आहे. तूं आपल्या प्रियकराची वाट कां पाहत आहेस, हा व्यंग्यार्थ यांतून निघतो.

... ६४.... १५ ते १८ यांत त्या स्त्रीचा भ्रमनिरास आहे. 'शीळ' हा शब्द प्रणयाच्या संकेताचा द्योतक आहे.

... .. १९ ते २२ या कडव्यांत निसर्गावर विनोदाचा आरोप करून त्यास मानुषी रूप दिलें आहे.

३. घनतर्मी शुक्र वध राज्य करी !

जाति : प्रणयप्रभा.

या कवितेंत कवीचा अमर आशावाद प्रकट झाला आहे.

पृ० ६२ ओ० ३ ते ६ मनावर पिलाचें रूपक आहे. अंड्यांतील पिलाला ज्याप्रमाणें जग तेवढेंच आहे असें वाटतें, त्याप्रमाणेंच स्वतःपुरता विचार करणाऱ्या मनुष्याच्या कोत्या मनाची स्थिति असते.

... ६३... ९

पहा... करुणा-पहा, जग कसें दयेमायेनें परिपूर्ण आहे.

... ६३... १०

बागुल रचणें-अकारण स्वतःच्या दुःखाचा बाऊ करणें.

... .. ११

येथें गुलाबाचें फूल अभिप्रेत आहे.

... .. १४

उघड नयन-स्वतःच्या दुःखांत गुरफटूं नकोस. नीट पहा.

कळ पळे दुरी-इतरांचीं दुःखें पाहून तुला स्वतःचें दुःख सोसण्याचें सामर्थ्य येईल.

पृ० ६३ ओ० १९ ते २२ मरणावर तीन कल्पना आहेत. तें सुखाचें द्वार आहे. तें परमेश्वराची कृपा आहे. तें मायाळू आई आहे. त्याला भेट, भिऊं नकोस. कारण निराशेनंतरच आशेचा उदय होत असतो.

#### ४. मरणांत खरोखर जग जगते !

जाति : प्रणयप्रभा.

यांत आत्म्याच्या अमृतत्वाची कल्पना काव्यमय केली आहे.

पृ० ६४ ओ० ९ यज्ञ-त्याग (Sacrifice).

- ... .. १७ सीता व बळीराजा यांनीं दिव्य केलें व अमरत्व मिळविलें.
- ... .. १८ बढते ( हिंदी शब्द ) म्हणजे पुढें पुढें पडतें.
- ...६५... २२ रे ! स्वभाव हा-म्हणजे हा सृष्टिनियम आहे. उलटें भलतें-म्हणजे याविरुद्ध जें आहे, तें विपरीत व अहितकर होय.
- ... .. २३ प्रकृतिगती-सृष्टिनियम.
- ... .. २४ कार्पण्य-प्राणांचा त्याग करण्याबाबतची कंजुशी व कुचराई.
- ... .. २५ जय हर -- हरहर महादेव हा रणघोष. 'जयहर'चेंच 'जोहर' हें रूप आहे. मातेस्तव-भारतमातेसाठीं.
- ... .... २६ कृति न करतांना केवळ मुखपांडित्य केल्यानें स्वतंत्रता प्राप्त होईल का ?

#### ५. जेव्हां लोचन हे :

सुनीत.

तांब्यांनीं हें सुनीत अजमेर येथें ७-१२-१९२२ रोजीं लिहिलें आहे. तेव्हां १९२० नंतरच्या कालांत त्यांनीं एकहि सुनीत लिहिलें नाहीं, असा जो समज आहे तो बरोबर नाहीं. पत्नीच्या निधनोत्तर जिवंत राहणें नको, हा विचार या सुनीतांत भावाविष्कृत केला आहे. सुनीत शेक्सपिरिअन पद्धतीचें आहे. आरंभीं हस्तगत न होणाऱ्या स्त्रीसौंदर्याचें वर्णन आहे,

पुढें काल तें हरण करील ही शंका आहे, नंतर कवीला आपल्या काव्यांत तें अमर करून ठेवण्याचें सामर्थ्य आहे हा विचार आहे आणि शेवटीं पत्नीच्या मृत्यूबरोबरच पतीचा मृत्यु होवो, ही परमेश्वरास प्रार्थना आहे. आधुनिक कवितेंतील उत्कृष्ट सुनीतांपैकीं हें एक सुनीत आहे. याच विषयावर केशवसुतांची 'काल आणि प्रियेचें सौंदर्य' ही कविता आहे.

पृ० ६५ ओ० ११ वाङ्मय-या ठिकाणीं निर्भय असा पाठभेद आहे. दोन्ही पाठ योग्य आहेत.

#### ६. साम्राज्यवादी :

या कवितेचा लेखनकाल ८-९-१९२९. साम्राज्यवादी ब्रिटिशांवर ही प्रखर टीका आहे. साम्राज्यवाद्यांची महत्त्वाकांक्षा, सत्तेची हांव, आक्रमक वृत्ति, परस्वापहरण, दंभ; आणि स्वतंत्रता, समता, बंधुता व शांति यांचे फुकटचे पाठ या सर्वांवर यांत ताशेरे आहेत.

पृ० ६६ ओ० ९ शास्त्रतटीं-यांत शास्त्र म्हणजे विज्ञान. (त्याच्या आधारेणें संहार होत आहे.)

#### ७. रिकामे मधुघट :

जाति : प्रणयप्रभा.

तांबे हे तात्त्विक कविता लिहूं लागले, तेव्हां त्यांच्या एका मित्रांनीं त्यांना लिहिलें कीं, आम्ही तुम्हांस कवि म्हणून मानीत व सन्मानीत आलों आहोंत. तेव्हां तुम्ही आम्हांला तुमच्या कविता द्या; तुमचें तत्त्वज्ञान नको. त्यांना उत्तर म्हणून तांब्यांनीं ही कविता लिहिली आहे.

मधु हा शब्द कवितेचा आणि दूध हा शब्द तत्त्वज्ञानाचा व्यंजक आहे.  
पृ० ६७ ओ० ३ मधुरभावनाव्यंजक कल्पना.

...६४... ७ ते १० यांत कवीनें आपलें वार्धक्य सूचित केलें आहे.  
८ गांठीं-पदरीं.

... ... १४ यौवनांतील ती हौस व तें सामर्थ्य आतां आपल्यांत नाही, असें कवि सुचवितो.

... ... १५ ते १८ वार्धक्यानंतरच्या मृत्यूच्या व्यंजक कल्पना.

#### ८. वाटेच्या वाटसरा :

जाति : आरंभीं चार ओळी अभिमन्यु; पुढें छंद : ओवी.



हैं एक नाट्यगीत आहे. एका युवतीने एका युवकाला विवाहाचें वचन दिलेलें असतें. पण पुढें तिचा विवाह दुसऱ्याच एका पुरुषाशीं होतो. तिचा संसार सुखाचा व सुरळीत चालला असतांना तिच्या पूर्वायुष्यांतील तो युवक तिच्याकडे पाहुणा म्हणून येतो. त्याच्या आगमनानें तिची जी मनःस्थिति होते, तिचें हें शब्दाचित्र आहे. थोड्या शब्दांत निवडक कल्पनांनीं तांब्यांनीं त्या स्त्रीच्या मनांतील भाव सजीव व साकार केला आहे. गीताची भाषा भावनानुकूल व स्त्रीस्वभावसुलभ आहे.

१. दत्त ( १८७५-१८९९ ).

दत्तांचें पूर्ण नांव दत्तात्रेय कोंडो घाटे. त्यांचा जन्म अहमदनगर येथें २६ जून १८७५ ला झाला. त्यांचे वडील तेथील एक वकील व सार्वजनिक कार्यकर्ते होते. त्यांच्या देखरेखीखालीं तेथेंच दत्तांचें प्राथमिक मराठी शिक्षण व पुढलें हायस्कूलचें इंग्रजी शिक्षण झालें. हें हायस्कूल अमेरिकन मिशननें चालवलें होतें. दत्त तेथून वयाच्या १५ व्या वर्षीं म्हणजे १८९० मध्यें मॅट्रिक झाले. पुढें उच्च शिक्षणासाठीं त्यांना आपलें घर सोडावें लागलें. प्रथम ते मुंबईच्या वुड्लसन कॉलेजांतून १८९४ सालीं इंटर झाले आणि नंतर इंदूरच्या खिश्न कॉलेजांतून १८९८ सालीं कलकत्ता विद्यापीठाचे बी. ए. झाले. आपल्या समकालीन कवींत दत्त एकटेच काय ते ग्रॅज्युएट होते.

मॅट्रिकनंतर बी. ए. होण्यास दत्तांना ९ वर्षांचा सुदीर्घ कालावाधि लागला. याचें कारण कॉलेजच्या वातावरणांत कालिदास, भवभूति आदि अभिजात संस्कृत कवींच्या काव्यनाटकादि वाङ्मयाच्या अध्ययनानें आणि शेक्सपिअर, मिल्टन, वर्डस्वर्थ, शेले आदि इंग्रज कवींच्या कवितांनीं दत्तांचें संस्कारसुलभ अंतःकरण आपलेंसें करून घेतलें. साहित्याच्या रसास्वादाबरोबरच त्यांना संगीताचाहि नाद लागला. सहज रेखाचित्रेहि रेखाटण्याचा त्यांनीं अल्प प्रयत्न करून पाहिला. तात्पर्य, साहित्य, संगीत व चित्र या कलांच्या उपासनेंत त्यांचें अभ्यासांतील क्रमिक पुस्तकांकडे दुर्लक्ष झालें.

कॉलेजांत असतांनाच दत्तांच्या कवितालतेला ऐन वासंतिक बहर आला. त्यांनीं संस्कृत व इंग्रजी साहित्यांतील कांहीं ललित कृतींना आदर्श



म्हणून मानून त्यांच्या अनुकरणाने कांहीं कविता लिहिल्या. सतत व्यासंग आणि रेव्हरंड टिळक व चंद्रशेखर या सत्कवींचा संग, यामुळे त्यांच्या प्रतिभेचे रोप पुढे चांगलेच पालवले आणि यथावकाश फोफावले. नगरास असतांना १८९६ च्या सुमारास टिळकांशीं त्यांची ओळख झाली. टिळकांच्या आग्रहामुळे व प्रोत्साहनाने दत्त 'बालबोधमेव्यां'त मुलांसाठीं कविता लिहू लागले.

१८९८ मध्ये ग्रॅज्युएट झाल्यावर नोकरी मिळावी, या हेतूने दत्त बडोद्यास गेले. तेथे त्यांचा चंद्रशेखरांशीं अकृत्रिम स्नेहसंबंध जुळून आला. परस्परांच्या सहवासांत या दोघांच्या अनेक रात्री काव्यशास्त्रविनोदांत व्यतीत झाल्या.

दत्तांच्या अगोदरच्या पिढींत परशुरामपंतांनीं 'नवनीता'चे संपादन करून त्यांत रामजोशांपर्यंतच्या कवींच्या कवितांचा समावेश केला होता. त्यानंतर अब्बल इंग्रजींत व पुढे कांतिकालांत जी आधुनिक मराठी कविता निर्माण झाली होती, तिच्या प्रातिनिधिक संग्रहाची अतिशय निकड होती. ती ध्यानांत घेऊन दत्तांनीं त्या प्रकारचा संग्रह तयार करण्याची कामगिरी आपल्या हातीं घेतली होती. परंतु दुर्दैवाने १८९९ मध्ये बडोद्यास प्लेग उद्भवला आणि १३ मार्चला, वयाच्या अवघ्या तेविसाव्या वर्षी त्याला दत्त बळी पडले.

दत्तांची कविता संख्येने थोडी आहे. पण तिच्या गुणांची गोडी मोठी आहे. तिच्यांत ऐतिहासिक ठळक प्रसंगांचे वर्णन आहे, सृष्टिसौंदर्याचे चित्रण आहे आणि मनोविकारांचे लेखन आहे. उच्चशिक्षणाचे संस्कार झाल्यामुळे दत्तांची अभिरुचि पालटली होती. तिला पुराणपद्धति नकोशी झाली होती. कालमानाप्रमाणे कवितेचे रूपहि बदलले पाहिजे, अशी तिची धारणा होती.

आधुनिक मराठी काव्यवाङ्मयांत उत्कृष्ट शिशुगीतांची भर प्रथम दत्तांनीं घातली. त्यांचीं गीते शिशूंविषयीं नाहींत, तर प्रामुख्याने शिशूंसाठीं आहेत, हा त्यांचा विशेष आहे. त्यांत वात्सल्याची भावना तर आहेच; पण मुलांचा स्वभाव, त्यांचे मानसशास्त्र, त्यांच्या आवडीनिवडी इत्यादि बाबी अधिक आहेत.

दत्तांना करुणरसाचें उद्भावन विशेष साधत असे. त्यांनीं अनेक करुणगीतें गाइलीं आहेत आणि तीं गातांनाच समाजाच्या दोषांना सहानुभूतिपूर्वक दोष दिला आहे.

## दत्तांचें काव्यवाङ्मय

१. दत्तांची कविता.

### १. आगगाडीस :

कवितेचा मथळा ' आगगाडीस ' असा असला तरी वास्तविक ही कविता आगगाडीस उद्देशून नाही. आगगाडी किंवा तिची गति ही मनाच्या अधीरतेची प्रतिमा आहे. कवि बाहेरगांवाहून स्वतःच्या गांवाकडे आगगाडीतून येण्यास निघाला आहे. आपली पत्नी, मुलें व मातापितरें यांना भेटण्यास तो अधीर झाला आहे. त्याच्या मनांतील ती अमूर्त उत्कंठा या कवितेंत मूर्त झाली आहे. अशा प्रकारच्या कवितालेखनांत दत्तांनीं यश प्राप्त केलें होतें.

पहिल्या कडव्यांत सचेतन मनाचें चापल्य आणि जड शरीराचें विरोधानें वर्णन केलें आहे.

### २. निज नीज माझ्या बाळा !

जाति : अक्रूर.

हें एक नाट्यात्मक विलापगीत आहे. यांत कवीनें एका दरिद्री परंतु प्रामाणिक मातेचें व्यथित अंतःकरण उघडें केलें आहे. ती दीन दुःखी माता आपल्या वत्साचा पाळणा हालवतांना निसर्गातील निरनिराळ्या घटनांचें क्रमशः वर्णन करीत आहे. पण तें करतांना तिला दारिद्र्याशीं संबंध असणाऱ्याच उपमा सुचत आहेत. त्यामुळें हा पाळणा पाषाणास पाझर फोडील, असा परिणामकारक उतरला आहे.

पृ० ७१ ओ० ९ ते १३ ऐतखाऊ व मतलबी नातलगांवर टीका.

... .. १९ नादानुकारी शब्द त्या प्रकारचा नाद व कुरकुर या दोन अर्थीं योजल्यामुळें कवितेंतलें कारुण्य विशेष उत्कट झालें आहे.

... ७२... २७ ते ३६ आईचें भाविक अंतःकरण.

पृ० ७३ ओ० ४३ ते ४९ हा उपदेश स्वाभाविक असल्यामुळे हृदयंगम झाला आहे.

दुसऱ्या कडव्याच्या अंतःस्थांतील कल्पना तिसऱ्या कडव्यांत पुनरुक्त झाल्या आहेत.

### ३. दीपका !

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

आपल्यावर परमप्रीति करणारं कुणीच नाही, असा कवीच्या मनांत विकल्प उत्पन्न होतो. तो या कवितेंत दीपकाच्या प्रतिमेच्या द्वारं साकार केला आहे. शेवटच्या चार ओळींतील भाव इतका उत्कट झाला आहे की, कवीनें जणूं कांहीं आपलें काळीजच बाहेर काढून ठेवलें आहे.

पृ० ७३ ओ० १ स्नेह शब्दावर श्लेष. एक अर्थ प्रेम. दुसरा अर्थ तेल.

... ४ कोरडाच जळतो म्हणजे निष्प्रेमाचें जीवन जगतो आणि रुक्षतेंत दिवस घालवतो.

... ८ क्षिति-पर्वा, काळजी.

### ४. स्वतंत्रतेस !

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

दत्तांनीं हें ऊर्जस्वल स्वातंत्र्यगीत लिहिलें तो काळ राष्ट्रीय जागृतीचा होता. स्वातंत्र्याचे पुजारी म्हणविणारे आणि त्याचे पोवाडे गाणारे ब्रिटिश राज्यकर्ते हिंदुस्थानांत मात्र त्याच स्वातंत्र्याच्या गळ्याला नख लावण्यास सिद्ध असत. ब्रिटिशांच्या या कुटिल नीतीवर या कवितेंत दत्तांनीं जळजळीत टीका केली आहे.

पृ० ७४ ओ० २ मन हें नेहमींच मुक्त असल्यामुळे तें स्वातंत्र्यदेवीचें खरें मंदिर आहे.

... ३ व ४ देशभक्तांच्या शरीराला जरी कारागृहांत डांबून टाकलें, तरी त्यांच्या मुक्त मनाचा प्रकाश तेथें फाकतो व त्याचें दुःख हरण करतो.

पृ० ७४ ओ० ५ व ६ पाहाः—

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धम् ।

दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्णम् ॥ इत्यादि.

पृ० ७४ ओ० ११ व १२ या दोन प्रश्नार्थक चरणांत ब्रिटिशांच्या विपरीत नीतीला चांगलाच तडाखा दिला आहे. ज्यांना म्ह० ब्रिटिश.

#### ५. शाहणी बाहुली :

चाल : ला बाईला.

लहान मुलांसाठी लिहिलेले हे गीत आहे. एक लहान मुलगी आईची भूमिका घेऊन आपल्या बाहुलीचे कोडकौतुक करीत आहे. यांत लहान खेळकर मुलीचे मन आहे. ५ व्या व ६ व्या ओळींत भरपूर नाट्य आहे. ८ व्या ओळींतील विनोद कुणाच्याहि गालाला खळी पाडील, असा खुसखुशीत आहे. दत्तांना मुलांच्या मनाची चांगली पारख होती.

#### १०. गोविंदाग्रज ( १८८५-१९१९ )

गोविंदाग्रजांचे संपूर्ण नांव राम गणेश गडकरी. त्यांचा जन्म गुजराथेत नवसारी येथे १८८५ मध्ये झाला. त्यांचे प्राथमिक शिक्षण कांही गुजराथीतून नवसारी येथे व कांही मराठीतून कर्जत येथे झाले. आर्थिक परिस्थिति प्रतिकूल असल्यामुळे गोविंदाग्रजांना लहानपणापासूनच हाल-अपेष्टांत दिवस काढावे लागले. निरनिराळ्या आपत्तींना तोंड देत देत ते १९०६ साली वयाच्या एकोणिसाव्या वर्षी कसेवसे प्रवेशपरीक्षा उत्तीर्ण झाले. पुढे त्यांनी फर्ग्युसन कॉलेजांत प्रवेश केला. परंतु प्रतिकूल परिस्थितीच्या कचाट्यांत त्यांना ते शिक्षण फार दिवस घेतां आले नाही. कोठेंतरी पोटापाण्याची सोय पाहणे आवश्यक असल्यामुळे त्यांनी कॉलेज सोडले आणि किलोस्कर नाटक मंडळींत मुलांचे शिक्षक म्हणून नोकरी धरली. ही नोकरी करीत असतांनाच त्यांच्या नाट्यप्रतिभेचा विकास झाला.

विद्यार्थीदशेपासूनच गोविंदाग्रजांचे निरनिराळ्या ग्रंथांचे वाचन जबर होते. त्यांचा व्यासंग सतत चालू असे. संतांचे साहित्य, मोरोपंतांचे आख्यानक काव्य, शाहिरांच्या लावण्या व पोवाडे-या सर्वांचा त्यांनी कसून अभ्यास केला होता. ऐतिहासिक पत्रव्यवहार व बखरी वाचून त्यांतील भाषाशैलीवर त्यांनी प्रभुत्व संपादन केले होते. अशा तऱ्हेच्या अफाट वाचनामुळे गोविंदाग्रजांची शब्दसंपदा संपन्न व समृद्ध होती. आपल्या



कवितांत व नाटकांत त्यांनीं ती मुक्त हस्तांनीं उधळली आहे. गोविंदाग्रजांच्या ठिकाणीं संयमाचा अभाव असल्यामुळे क्वचित् ती फापटपसाच्या प्रमाणें झाली आहे.

गोविंदाग्रजांना बालपणापासूनच कवितालेखनाचा छंद होता. १९०६ सालीं 'अल्लड प्रेमास' ही त्यांची कविता प्रथमच 'मासिक मनोरंजनांत' प्रसिद्ध झाली. त्यानंतर सहासात वर्षांनीं त्यांच्या कवितेला इतकी लोकप्रियता प्राप्त झाली कीं, तिच्याशिवाय 'मनोरंजना'चें पान उलटेनासें झालें. कल्पकता हा गोविंदाग्रजांच्या काव्यप्रतिभेचा प्रमुख गुण होय. त्यांच्याइतका कल्पक दुसरा कवि झाला नाही. त्यांची कल्पनाशक्ति जितकी सूक्ष्म व तरल, तितकीच आकाशांत उंच उड्या मारून भरारणारी होती. त्यांच्या काव्यनाटकांत सर्वत्र तिचा संचार आढळतो. कल्पनांच्या बाबतींत ते कुवेर होते. जेथें जेथें संधि मिळेल, तेथें तेथें औचित्य असो किंवा नसो, त्यांनीं कल्पना उधळल्या आहेत.

आरंभीं आरंभीं गोविंदाग्रजांच्या काव्यांत जो प्रतिभेचा प्रज्वलित स्फुलिंग होता, तो पुढें पुढें हळूहळू मंदावत गेला. १९१३ पासून ते नाट्यलेखनाकडे वळले. 'प्रेमसंन्यास', 'पुण्यप्रभाव', 'एकच प्याला' व 'भावबंधन' हीं त्यांच्या चढत्या-वाढत्या प्रतिभेचीं एकाहून एक सरस अशीं फळें होत. या यशस्वी नाटकांमुळे त्यांची लोकप्रियता शिगेला पोचली.

विनोदाच्या बाबतींतहि गोविंदाग्रजांचा हातखंडा होता. त्यांचा विनोद अतिशयोक्त असला तरी मार्मिक व सूक्ष्म आहे. त्यांच्या ठिकाणीं वाचकांना भरपूर हसवण्याचें अचाट सामर्थ्य आहे. गोविंदाग्रजांचे विनोदी लेख बाळकराम या टोपण नांवानें 'रिकामपणची कामगिरी' या पुस्तकांत एकत्रित केलेले आहेत. गोविंदाग्रजांच्या कवितेलाहि विनोदाचें वावडें नाही. गोविंदाग्रज जगाला शिव्याशाप देतांना किंवा त्यावर संतापतांना दिसत नाहीत. समाज सुधारावा यासाठीं ते त्याचा उपहास करतात आणि स्वतः-बरोबर त्याला हंसावयास लावतात.

गोविंदाग्रजांना अवघें ३५ वर्षांचें आयुष्य लाभलें. परंतु तेवढ्या अल्पावधींत त्यांनीं गुणदृष्ट्या अमोल वाङ्मय निर्माण करून मराठी वाङ्मयांत आपलें नांव अजरामर करून ठेवलें आहे. त्यांची प्रतिभा अलौकिक होती



आणि भाषाप्रभुत्व असाधारण होते. गोविंदाग्रजांना अल्प आयुष्यांत अनेक तापदायक प्रसंग अनुभवावे लागल्यामुळे त्यांच्या अनेक कवितांवर शोकाची करुणकोमल सावली पसरली आहे. त्यांच्या कांहीं कवितांत अशा रीतीने निराशा आढळली, तरी ती उदासरम्य आहे. सारांश, सुरस व चमत्कारिक कल्पना, सुंदर व वेचक शब्द आणि गोड निराशा यामुळे गोविंदाग्रजांचे काव्य कांहीं निराळे व आगळे झाले आहे. २३ जानेवारी १९१९ ला सावनेरास रक्तक्षयाच्या विकाराने गोविंदाग्रजांना मृत्यु आला.

### गोविंदाग्रजांचे काव्यवाङ्मय

१. वाग्वैजयंती. २. राजहंस ( निवडक कविता ).

#### १. ती कोण ?

सुनीत.

भाव व विचार या दृष्टींनी मराठी साहित्यांतील हे एक उत्कृष्ट सुनीत आहे. प्रस्तुत सुनीतांत गोविंदाग्रजांचे स्वतःचे मनोलेखन आहे. सुनीत शेक्सपिरिअन पद्धतीचे आहे. आरंभीच्या चार चरणांत निसर्गामध्ये निरनिराळ्या काल्पनिक जोडप्यांत जी प्रणयक्रीडा दृष्टीस पडते, तिचे वर्णन आहे. जलधि-नदी, रसिक-कविता, चंद्र-कुमुदिनी व दिवस-रात्र हीं जोडपीं निर्दिष्ट करतांना गोविंदाग्रजांनी व्याकरणदृष्ट्या स्त्रीपुरुषलिंगाचा विचार केला आहे. पुढील चार ओळींत प्रेमाच्या सापेक्षतेचा विचार मांडला असून त्याबाबतची आपली निराशा विकल वाक्यांत व्यक्त केली आहे.

अशा रीतीने मध्यवर्ती विचाराला कळाटणी दिल्यानंतर शेवटच्या सहा चरणांत त्या निराशेच्या भावनेची पराकाष्ठा केली आहे. त्यामुळे हे सुनीत परिणामकारक झाले आहे.

पृ० ७६ ओ० १३ जीवनी-श्लेष आहे. आयुष्यांत किंवा पाण्यांत.

पृ० ७७ ओ० १० गोविंदाग्रजांना साक्ष पटते असे म्हणावयाचे आहे.

#### २. विरामचिन्हें :

वृत्त : शार्दूलविक्रीडित.

इंग्रजी वाङ्मयाच्या संपर्काने आपल्या वाङ्मयांत विरामचिन्हांची आयात झाली. परंतु त्यांना पाहून कल्पना स्फुरली ती मात्र गोविंदा-

ग्रजांनाच ! त्यांचें निरीक्षण किती सूक्ष्म होतें आणि कल्पनाशक्ति किती अमोघ होती, त्याचें हें एक सुंदर उदाहरण आहे.

शेक्सपिअरनें आपल्या As You Like It या नाटकांत मानवाच्या जीवनावर नाटकांतील सात अंकांचें रूपक बसविलें आहे. त्याच मानव-जीवनावर गोविंदाग्रजांनीं ही अगदींच नवी व निराळी कल्पना आरोपित केली आहे.

### ३. प्रेम आणि मरण :

जाति : नृपममता. शेवटीं अनुष्टुप्.

प्रस्तुत कविता कथात्मक आहे. तिच्यांत वीज आणि वृक्ष यांच्या प्रेमाची अमर कथा आहे. ती सांगतांना गोविंदाग्रजांनीं आपलें स्वतःचें भावनामय अंतःकरण तिच्यांत ओतलें आहे. त्यामुळें ती कथा अतिशय उत्कट झाली आहे. पुन्हा तिच्यांत प्रेम करणाऱ्या जीवाच्या जीवनाची आणि मरणाची काव्यमय मीमांसा केली आहे. त्यामुळें तिच्यांत एक प्रकारची जादू निर्माण झाली आहे. कवितेंत वर्णनाचा आवश्यक तेवढाच तपशील दिला आहे. भर मुख्यतः प्रेमासाठीं स्वार्थत्यागाची केवढी परमावाधि करावी लागते या तत्वावर दिला आहे. त्यामुळें कविता अव्वलपासून अखेरपर्यंत असर करणारी झाली आहे. कवितेंत मधून मधून जुन्या शाहिरांच्या लावण्यापोवाड्यांतील वेचक व अर्थगर्भ शब्द अत्यंत चपखल रीतीनें पेरले आहेत. त्यांनीं कवितेच्या शोभेंत जादा भर घडली आहे.

पहिल्या चार कडव्यांत वृक्षाच्या मनांत विजेसंबंधीं प्रथमदर्शनीं जें प्रेम उत्पन्न होतें, त्याच्या प्रभावाचें वर्णन आहे.

पृ० ७८ ओ० १३ कर्माचें विंदान-नशिवाचा खेळ, कौतुक.

... .. १४ आन-दुसराच, निराळा.

...७९... २२ गगनांतील चंचलबाला म्ह.वीज. तिचा नाचरेपणा.

...७९... २३ व २४ यांत प्रेमाच्या प्रभावाचें अतिशयोक्त वर्णन करून सत्याचा भास निर्माण केला आहे.

शब्दांवर श्लेष आहे. वृक्षाचा स्वभाव वाढण्याचा असतो. जातिधर्म वा जातपात विसरला.

पृ० ७९ ओ० ३३ व ३४ या पालुपदांत हठयोगाच्या कल्पनेशेजारीच विसदृश अशी रोगाची कल्पना केवळ योगाशी रोगाचें यमक साधतें म्हणून मांडली आहे. गोविंदाग्रज शब्दांच्या आहारीं कसे जात, त्याचा हा एक नमुना आहे. प्रेमाला हठयोग म्हणण्यांत त्याची अदम्य शक्ति सूचित केली आहे. पण रोग म्हणण्यांत त्याचें वैकल्य जें आपणांस अभिप्रेत नाहीं, तें व्यक्त होईल, हें गोविंदाग्रजांच्या लक्षांत आलें नाहीं.

स्वतःचा ज्या गोष्टीशीं अर्थाअर्थीं कांहीं संबंध नाहीं, तिची चर्चा करावयाची व तिच्यावर टीका करावयाची, या सामाजिक प्रवृत्तीवर पांचव्या कडव्यांत मार्मिक प्रहार आहे. कथेंत त्यामुळें सत्याचा आभास उत्पन्न झाला आहे.

सहाव्या कडव्यांत विषयग्रस्तता म्हणजे आत्मनाश हा सिद्धान्त काव्यमय भाषेंत उलगडून दाखविला आहे.

कडवीं ७, ८ व ९ यांत पुराणकथांचा आधार घेऊन अद्भुताचा उपयोग केला आहे. पण त्यामुळें कवितेंतील प्रतिपाद्य तत्वाचा परिपोष झाला आहे. पुन्हा वास्तवतेला कोणत्याहि प्रकारचा ढळ पोंचलेला नाहीं हें विशेष.

दहाव्या कडव्यांत प्रेमहीन अमरतेचा धिक्कारपूर्वक उपहास आहे.

पृ० ८१ ओ० ७९ व ८० पाहाः—

It is better to have loved and lost than never to have loved at all.  
— Tennyson.

कडवीं ११ व १२ यांत प्रेमाच्या सफलतेत मरणाचा महिमा आहे हें तत्त्व काव्यमय केलें आहे. शेवटचा अनुष्टुप् म्हणजे नाटकी परिणामाचें (dramatic effect) उत्तम उदाहरण आहे.

#### ४. अल्लुड प्रेमास :

आयुष्याच्या आरंभापासून तों अंतापर्यंत गोविंदाग्रजांना जगाचा जो कडु अनुभव आला, त्यांतील कडवटपणा या विरक्तवृत्तिपर भावोत्कट

कवितेंत प्रकट झाला आहे. गोविंदाग्रजांच्या कवितेंत कल्पना फार. पण या कवितेंत केवळ भावाविष्कार आहे. कवितेंत सामाजिक टीका आहे. ती योग्य व मार्मिक आहे.

पृ० ८२ ओ० ६ व ७ जगाच्या चांचल्यावर टीका.

....८३... १०, ११ व १२ स्वार्थी, पापी व दिखाऊ समाजाचें सत्यस्वरूप.

... .. १४, १५ व १६ विवाहसंस्था, धार्मिक विधि व साहित्यशास्त्र यांतील जाचक बंधनांवर प्रहार.

...८३... २५ ही सुंदर कल्पना अर्थान्तरन्यासासारखी आहे. तिच्यांत थोड्या शब्दांत भरपूर अर्थ सामावला आहे.

#### ५. गोफ :

जाति : फटका. शेवटीं अनुष्टुप्.

प्रस्तुत कवितेंत गोविंदाग्रजांनीं स्वतःचें मनोलेखन केलें आहे. यांत त्यांच्या अस्थिर व चंचल प्रीतिजीवनाच्या विफलतेचें हृदयस्पर्शी निवेदन आहे. परंतु तें करतांना गोफाच्या खेळाच्या प्रतिमेचा अवलंब केला आहे. हीच गोफाची कल्पना त्यांनीं भावबंधनांतील ' कठिण कठिण कठिण किती पुरुषहृदय बाई ' या पदांतील ' प्रेमाचा सुंदरसा गोफ गुंफिती ' या चरणांत मांडली आहे. स्त्रीपुरुष परस्परांच्या सहवासांत प्रेमाचे पाश विणतात खरे, परंतु पुढें ते तुटूं न देतां उकलणें अतिशय अवघड जातें. ' बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि । प्रेमबन्धनसमं न हि किञ्चित् । ' या सुभाषितांत हेंच तत्त्व अनुस्यूत आहे.

पृ० ८४ ओ० ६ प्रेमगुणीं-यांत ' गुणा 'वर श्लेष आहे. गुण म्हणजे दोर.

...८४... ११ व १२ यांत प्रतिपक्षावर दोषारोप आहे.

....८५... २१ व २२ अशा वास्तवतापूर्ण पण चमत्कारिक कल्पनांनीं काव्य परिणामकारक करण्याची गोविंदाग्रजांची रीति असे.



## ६. परमाणूंचें कार्यमाहात्म्य :

जाति : फटका.

यांत गोविंदाग्रजांचें सूक्ष्म निरीक्षण आणि तत्त्वसंशोधन दिसेल. परमाणु म्हणजे वाळूचे लहान लहान कण. त्यांना आपण यःकश्चित् समजतो. परंतु त्यांचा महिमा कसा आहे, तो या कवितेंत गोविंदाग्रजांनीं दाखविला आहे. पृ० ८५ ओ० ९ व १० यांत गोविंदाग्रजांचा विनम्रभाव व्यक्त झाला आहे.

मसि म्हणजे शाई.

## ७. चिंतातुर जंतु :

जाति : फटका, शेवटीं अनुष्टुप्.

प्रत्येक वस्तूच्या उपयुक्ततेचा ऊहापोह करणारे कांहीं फाजील अर्थ-शास्त्रज्ञ आढळतात. त्यांच्या अतिरेकी व एककल्ली विचारसरणीवर या कवितेंत उपरोधपूर्ण विनोदी टीका आहे.

गोविंदाग्रजांच्या ठिकाणीं बुद्धि व भावना या दोन्ही वस्तु सारख्याच प्रमाणांत होत्या. त्यामुळें त्यांच्या कविता जशा भावनाप्रधान तशा बुद्धि-प्रधानहि आहेत. त्यांच्या कवितासंग्रहांत 'प्रेम आणि मरण' या कविते-सारख्या तत्त्वगंभीर कविता जशा आढळतात, तशाच 'चिंतातुर जंतु' या कवितेसारख्या हास्यप्रचुर विनोदी कविताहि दृष्टीस पडतात. यासंबंधीं एका टीकाकारानें म्हटलें आहे : It is usually those who see the comic tide of life that can best understand and express its serious and tender side. तें गोविंदाग्रजांना तंतोतंत लागू पडतें.

पृ० ८६ ओ० १२ 'मुक्ति'वर कोटी आहे. 'मरण' द्या, असें सुचवलें आहे.

## ८. फूल ना फुलाची पाकळी :

जाति : फटका. शेवटीं अनुष्टुप्.

प्रस्तुत कवितेंत गोविंदाग्रजांनीं गुणैकदृष्टीचें महत्त्व स्पष्ट केलें आहे. माणसाच्या गुणांकडे पाहवें, दोषांकडे दुर्लक्ष करावें, असें त्यांच्या सांग-



ष्याचें तात्पर्य आहे. कारण काळाच्या ओघांत गुणांचें स्मरण राहतें. दोष स्मरणीय नसल्यामुळें त्यांचें महत्त्व टिकत नाही. थोडक्यांत असें कीं, गुणांचें स्वरूप शाश्वत तर दोषांचें अशाश्वत आहे.

पहिल्या चार कडव्यांत शहाजहान, कालिदास, वाल्मीकि व श्रीकृष्ण यांच्या जीवनांतील दोषांकडे जग कसें दुर्लक्ष करतें, गुणांना महत्त्व देतें, तें दाखविलें आहे. हा क्रम श्रीकृष्णाकडून शहाजहानाकडे असता तर कालानुक्रम साधला असता.

सातव्या कडव्यांत या कवितेला प्राणभूत असणारें तत्त्व सुभाषिताच्या रूपानें सांगितलें आहे.

शेवटच्या अनुष्टुपांत गोविंदाग्रजांनीं रसिकांना आपल्या एकंदर जीवन-क्रमाकडे पाहूं नकां, तर फक्त त्यांतील जो भाग प्रशंसनीय आहे, त्याचाच स्वीकार व पुरस्कार करा, अशी विनवणी केली आहे. यांत गोविंदाग्रजांचें विनम्र आत्मसमर्थन आहे.

### ११. एकनाथ पांडुरंग रेंदाळकर ( १८८७-१९२० )

रेंदाळकरांचा जन्म १ जुलै १८८७ ला कोल्हापूरनजिकच्या रेंदाळ गांवीं झाला. त्या गांवचे हे वतनदार कुलकर्णी. परंतु घराण्यांत निर-निराळ्या चुली झाल्यावर वांढ्यास आलेल्या अल्प हिश्यांत संसाराचा गाडा चालवितां येणें शक्य नसल्यामुळें यांचे वडील त्याच गांवांत एका व्यापाऱ्याकडे नोकरीस राहिले. या गांवांतच रेंदाळकरांचें प्राथमिक शिक्षण झालें. शाळेंत ते विद्यार्थी होते तेव्हांपासूनच त्यांना काव्य, नाटक, कादंबरी इत्यादि ललितवाङ्मय वाचण्याचा हव्यास जडला. त्यांच्या वडिलांना ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव आणि संतप्रणीत ग्रंथ वाचण्याचा नाद होता. त्यांचाहि रेंदाळकरांच्या बालवयांतील संस्कारसुलभ मनावर परिणाम झाल्याखेरीज राहिला नाही.

रेंदाळकरांचें मराठी चौथीनंतरचें पुढील इंग्रजी शिक्षण कागलला झालें. येथेंच त्यांना प्रथम कवितारचनेची प्रेरणा झाली. येथें इंग्रजी चौथींत ते अभ्यास करीत असतांना अकस्मात् त्यांचे वडील वारले, त्यामुळें त्यांचा एक बळकट आधार तुटला. ते हताश झाले. त्यांच्या मनाला विराग

उत्पन्न झाला आणि संतसाहित्याच्या पारायणांत ते आपला काल क्रमू लागले. त्यांचें इंग्रजी शिक्षण येथेंच थांबलें. कांहीं कालानंतर ते तेथूनच व्हर्नाक्युलर फायनल परीक्षा पास झाले. तींत कोल्हापूर केंद्रांतून त्यांचा क्रमांक पहिला आला होता.

१९०५ सालीं चिकोडी तालुक्यांतील कुन्नूर या गांवीं रेंदाळकरांनीं मराठी शाळेंत असिस्टंट मास्तराची जागा पत्करली. या सुमारास त्यांचें कवितालेखन चालूच होतें, परंतु त्याकरितां संस्कृत भाषेची आवश्यकता आहे, ही जाणीव उत्पन्न होतांच ते सांगलीस निघून गेले आणि तेथें व कोल्हापुरास त्यांनीं जुन्या पद्धतीनें रघुवंशादि पंचमहाकाव्यांचा आणि सिद्धान्तकौमुदीचा वराचसा भाग आत्मसात् केला. कोल्हापुरास सुप्रसिद्ध संस्कृतपंडित बाळशास्त्री हुपरीकर हे त्यांचे गुरु होते. संस्कृतभाषा त्यांच्या कवितालेखनास साहाय्यभूत झाली.

अशा रीतीनें कुन्नूर, सांगली व कोल्हापूर येथें पांच वर्षे जाऊन येऊन काढल्यावर १९१० च्या सुमारास रेंदाळकर कोल्हापुरास कायमचे येऊन राहिले. तेथें त्यांना सुरुवातीस 'विजयी मराठा' या पत्राच्या व पुढें 'धर्मविचार' या मासिकाच्या संपादकाची जागा मिळाली. या नियतकालिकांतून 'मंदार' या नांवानें त्यांनीं आपली कविता प्रसिद्ध केली आहे. ती पाहून त्यांचे गुरु हुपरीकर यांना परम आनंद झाला. त्यांनीं आपल्या शिष्याचा यथोचित गौरव केला आणि शंकराचार्यांनीं त्यांना 'कविभूषण' ही पदवी प्रदान केली.

१९१० ते १९१४ हा चार वर्षांचा काळ रेंदाळकरांच्या प्रतिभेच्या उत्कर्षाचा होय. महाराष्ट्रांतील बहुतेक नियतकालिकांतून त्यांची कविता या सुमारास येत होती आणि कवि म्हणून सर्वत्र त्यांची कीर्ति पसरत होती. १९१० च्या सुमारास त्यांचा विवाह झाला. परंतु त्यांच्या पत्नी या स्वभावतांच हट्टी, विक्षिप्त व तऱ्हेवाईक असल्यामुळें रेंदाळकरांना जन्मभर त्रास झाला.

'धर्मविचार' मासिक बंद पडल्यावर रेंदाळकर मुंबईस सुप्रसिद्ध 'मनोरंजन' मासिकाच्या कचेरींत संपादकांचे साहाय्यक म्हणून नोकरीस राहिले.

रेंदाळकरांचा हा वेळपर्यंतचा काळ लहानसान मर्यादांच्या गांवीं गेला होता. जगांतील निरनिराळ्या जनांच्या चमत्कारिक स्वभावांची त्यांना ओळखपाळख नव्हती. त्यांचा स्वभाव साधासुधा, सरळ व मोकळा होता. त्यांचा कांहींनीं अवास्तव फायदा घेतला. क्वचित् त्यांचा उपमर्द झाला. पुन्हा 'मनोरंजना'साठीं आलेल्या कवितांची निवड करण्याचें कार्य त्यांच्याकडे असल्यामुळें त्यांनीं ज्यांच्या कविता साभार परत केल्या, त्या कविजनांनाहि रेंदाळकरांविरुद्ध काहूर माजविण्यास कारण सांपडलें. याच सुमारास रेंदाळकरांनीं निर्यमक कवितेची तरफदारी चालविली होती. 'विविधज्ञानविस्तारां'त लेख लिहून ते तिचें समर्थन करीत होते. त्यांच्या विरोधकांना वादासाठीं हेंहि एक आयतेंच भांडवल मिळालें. घरांत विचित्र पत्नीचा उपसर्ग आणि बाहेर हितशत्रूंच्या टीकेचा मारा यांमुळें रेंदाळकर कावून गेले. त्या संतापाच्या भरांत त्यांनीं कांहीं उद्वेगपर कविता लिहिल्या आहेत. त्या स्वाभाविक असल्या तरी त्यांतली वृत्ति मात्र अभिनंदनीय नाहीं. रेंदाळकरांच्या विरोधकांनीं त्यांच्या सच्छीलावर शिंतोडे उडतील असा देखील प्रचार खासगी संभाषणांच्या व लेखांच्या द्वारे चालविला होता. हा प्रकारहि गर्हणीय होता.

पहिल्या युरोपीय महायुद्धाची आंच लागल्यामुळें 'मनोरंजना'चे संपादक कै. मित्र यांना रेंदाळकरांना दूर करावें लागलें. तेव्हां रेंदाळकर पुण्यास कै. हरिभाऊ आपटे यांच्या 'करमणुकी' चें काम पाहूं लागले. या सुमारास हरिभाऊंनीं चिपळूणकर आणि मंडळीसाठीं महाभारताचा उपसंहार लिहिण्याचें कार्य हातीं घेतलें होतें. त्याचीं टिपणें काढण्याचें जबाबदारीचें काम त्यांनीं रेंदाळकरांवर सांपविलें होतें. हरिभाऊंच्या मृत्यूमुळें हीं कार्ये अपुरीं राहिलीं. शेवटीं रेंदाळकर कव्यांच्या महिला-श्रमांत शिक्षक राहिले. परंतु त्यांची प्रकृति खालावत असल्यामुळें ते इचलकरंजीला गेले. तेथें त्यांच्या पत्नी निधन पावल्या. रेंदाळकरांना क्षय झाला होता. प्रकृति सुधारावी म्हणून त्यांनीं अनेक उपाय केले. शेवटीं ते आपल्या मूळगांवीं रेंदाळला जाऊन राहिले. तेथेंच २० नोव्हेंबर १९२० ला त्यांचा अंत झाला.

रेंदाळकरांनीं संस्कृत, इंग्रजी, बंगाली व प्राचीन मराठी या चारहि



भाषांचा व त्यांतील साहित्याचा मार्मिक अभ्यास केला होता. संस्कृत कवींपैकी कालिदास व बाण हे त्यांचे आवडते कवि होते. माइकेल मधुसूदन दत्त, तोरुलता दत्त, द्विजेंद्रलाल राय आदि बंगाली कवींच्या कृतींचे गुळावरहुकूम भाषांतर करून त्यांनी आधुनिक मराठी कवितेच्या वैभवांत अमोल भर टाकली आहे. टेनिसनच्या 'एनॉक ऑर्डन' वरून त्यांनी 'सारजा' हे काव्य लिहिले आहे. लॉगफेलो आणि ईला व्हीलर विलकॉक्स या अमेरिकेतील कवि व कवयित्रींच्या लहान लहान कवितांची त्यांनी इतकी बेमालूम रूपांतरे केली आहेत की, त्यांचे मूळ परके असावे असा संशयदेखील येत नाही.

रेंदाळकरांचे वृत्तरचना व भाषा या दोन्हीवर असाधारण प्रभुत्व होते. कोणताही विचार अथवा भाव त्यांना सहजगत्या हवा त्या वृत्तांत व्यक्त करता येत असे. त्यांच्या ठिकाणी लेखनाचा असा उरक असल्यामुळे तेहतीस वर्षांच्या अल्प आयुष्यांत त्यांनी आपल्या समवयस्क कवींच्या मानाने विपुल काव्यनिर्मिती केली आहे. रेंदाळकरांच्या कवितांचे विषयही विविध व अद्ययावत् आहेत. त्यांच्यांतून त्यांनी उदारमतवादाचाच पुरस्कार केला आहे.

## रेंदाळकरांचे काव्यवाङ्मय

१. रेंदाळकरांची कविता, प्रथमखंड.
२. रेंदाळकरांची कविता, द्वितीय खंड.

### १. प्रबोधन :

जाति : उषा.

प्रबोधन म्हणजे जागृत करणे. ऑगस्ट १९११ च्या 'मनोरंजनांत' ही कविता पति पत्नीस उठवीत आहे या सचित्र स्वरूपांत प्रसिद्ध झाली होती. कवितेतील सुरस प्रणयभाव, तिची गेय रचना, तिच्यातील मृदुल मधुर शब्दांची योजना आणि प्रभातकाळचे हृदयंगम वर्णन यांमुळे ही कविता त्या काळी महाराष्ट्रांत सर्वत्र प्रसार पावली होती.

पृ० ८८ ओ० ९ उत्कर-रास.

... .. १३ विकच-प्रफुल्ल.

... .. १५ सिंजित-अलंकारांचा छुमछुम नाद.

... .. १८ हे वेंचक शब्द बाणाच्या कादंबरींतील आहेत.

## २. भाऊ भाऊ आम्ही सारे भाऊ :

जाति : भूपाळी.

‘ वाल्मीकेर जय ’ या बंगाली पुस्तकावरून कै. वासुदेव गोविंद आपटे यांनी मराठीत ‘ वाल्मीकीचा जय ’ हें पुस्तक लिहिलें होतें. त्यांत विश्व-बंधुत्वाची विशाल व व्यापक भावना प्रस्फुटित झाली होता. तें पुस्तक वाचून रेंदाळकरांना ही कविता स्फुरली होती. [ पाहा : ‘ मनोरंजन ’, सप्टेंबर १९११. ]

पृ० ८९ ओ० ९ व १० ‘ आत्मवत् सर्वभूतेषु ’ किंवा ‘ आत्मौपम्येन सर्वत्र ’ या प्रकारची बुद्धि. ‘ हें विश्वचि माझे घर ’ अशी बुद्धि. ‘ भाऊ भाऊ ’ ही कल्पना Brotherhood शब्दावरून.

... ९० ... १४ प्रेमगुणानें-गुण शब्दावर श्लेष गुण म्ह. दोरी.

१७ स्फुरद्दीपिका म्ह० मशाल ( torch ).

... .. २२ अद्वैत-एकत्व ( Union ) या अर्थानें.

## ३. काव्यदेवीला :

वृत्त : पृथ्वी.

माइकेल मधुसूदन दत्त यांच्या एका बंगाली चुटक्याचा या कवितेस मुग्ध आधार आहे हिच्यांत कवितेवर नेहमीप्रमाणें वनितेचा आरोप केला असून यमकांवर तिच्या पायांतील बेड्यांचा आरोप केला आहे. या बेड्यांचें बंधन तिच्या स्वाभाविक विकासास व लीलाविलासास जाचक आहे, असा विचार इथें मांडला असून निर्यमकत्वाचें काव्यमय समर्थन केलें आहे.

रेंदाळकरांपूर्वी घंटय्या नायडूंनी १८८३ च्या सुमारास निर्यमक कविता लिहिण्याचा प्रयत्न केला होता. परंतु १९१०-११ च्या सुमारास रेंदाळकर



व नागेश या मित्रद्वयांनीं मोठ्या हिरीरीनें तिचा प्रचार केला. तेव्हां या चळवळीचें श्रेय रेंदाळकरांकडे जातें.

पृ० ९१ ओ० १२ जान्हवी-गंगेचें नांव.

आठव्या महाराष्ट्र साहित्य संमेलनांत केशव विश्वास फणसे यांनीं निर्यमक कवितेचा अर्ज सादर केला होता. आधुनिक मराठी कवितेच्या इतिहासांत त्यांतील पुढील ओळी व विचार यांना महत्त्व आहे :

“होतें आजवरी अनाथ विजनीं, त्या एकनाथें परी—  
धैर्यें शीघ्र सनाथ कीं करुनियां प्रेमें जनीं आणली  
नागेशादिकही मदीय असती ते पाठिराखे जगीं

माझे भक्त न होति काय अजि ह्या साहित्यसंमेलनीं ?  
माझ्या शैशविं तेंवि नृत्यसमयीं संगीतकीं शोभलीं  
माझीं सुंदर नूपुरें सुयमकें स्वाभीष्टकांचीं भलीं  
आतां तीं शिशुनूपुरें; मम पुरें; व्या मोद अर्थें रसें  
स्त्रीतें प्रौढवयांत नूपुरझणत्कार त्रपा देतसे.”

[ पाहा : वि. ज्ञा. वि. व म. सा. प., वर्ष २, अं. ७, ८ व ९ ].

#### ४. काय वरें झालें !

जाति : वीरभ्रमरा.

इंग्रजी वाङ्मयांत Pastoral हा एक काव्यप्रकार आहे. त्यांत ग्रामीण वातावरणाचें चित्रीकरण असतें. आणि त्या वातावरणाच्या पार्श्वभूमीवर तेथें वास्तव्य करणाऱ्या धनगरांचें जीवन रेखाटलेलें असतें. रेंदाळकरांचा हा प्रयत्न त्या प्रकारचाच असून कल्पनातीत यशस्वी झाला आहे. कवितेंतील चटक्या आरंभापासून अंतापर्यंत जसाच्या तसा कायम राहिला आहे. यांत धनगराएवजीं शेतकरी आहे.

#### ५. अजुनि चालतोंचि वाट :

जाति : उषा.

या आर्त व आर्द्र भावगीतांत रेंदाळकरांचें व्यथित मनोलेखन आहे. उभ्या आयुष्यांत त्यांना कधीं विराम वा विरंगुळा मिळाला नाही. अस्थिर

आयुष्यांत त्यांना अनेक स्थळीं हिंडावें लागलें आणि अनेक आपत्तींशीं झुंजावें लागलें. अखेर ते थकून भागून आपल्या मूळ गांवीं रेंदाळला परत आले. त्या व्याकुळ मनःस्थितींत त्यांनीं हें अखेरचें गीत गाइलें आहे.

जीवन हा रुक्ष माळरानावरील प्रवास आहे. मृत्यूचें विरामस्थान केव्हां येणार तें कांहीं कळत नाही, असा या गीताचा आरंभ असून मध्यें पश्चात्तापाचे उद्गार आहेत. शेवटीं शोकाची परमावधि झाली आहे. मराठी वाङ्मयांत इतकें करुणकोमल गीत दुसरें नाही.

पृ० ९३ ओ० १६ **मरुसरिता**— लुनी नदी. ही कच्छच्या रणांतच-  
ओसरते.

## १२. बालकवि ( १८९०-१९१८ )

बालकवींचें पूर्ण नांव व्यंबक बापूजी ठोमरे. त्यांचा जन्म खानदेशांत धरणगांव येथें १३ ऑगस्ट १८९० रोजीं झाला. येथें त्यांचे वडील पोलीस खात्यांत होते. त्यांच्या वारवार बदल्या होत. त्यामुळें बालकवींच्या मराठी प्राथमिक शिक्षणाची बरीच हेळसांड झाली.

१९०५ किंवा १९०६ च्या आसपास एरंडोलास एक कीर्तनकार आले होते. त्यांचें नांव रामभाऊ वैद्य. हे 'वनवासी' या नांवानें कविता लिहित आणि गांवोगांव मराठे व रजपूत यांच्या इतिहासांतील संस्मरणीय व ऊर्जस्वल प्रसंगांवर कथा करीत हिंडत. बालकवींच्या वडिलांनीं बालकवींना त्यांच्या स्वाधीन केलें. त्यांच्या सहवासांत अंतःकरणांत मूळ धरून असलेली बालकवींची काव्यस्फूर्ति अंकुरित झाली. हे वनवासी बालकवींना बरोबर घेऊन उज्जयिनी येथें गेले होते तेथें त्या वेळीं कॉलन्याची सांथ जोरांत पसरली होती. तिलाच वनवासी बळी पडले. वनवासी वारल्यावर बालकवि जळगांवास परत आले. तेथें त्यांची वडील बहीण जीजी होती. तिनें हि पुत्रवत् असलेल्या आपल्या लहान भावाची प्रतिभा पल्लवित व्हावी यासाठीं त्याला अनेकदां उत्तेजन दिलें होतें.

बालकवि कांहीं काळ इंग्रजी शिक्षणासाठीं आपल्या वडील बंधूंबरोबर धुळ्यास जाऊन राहिले होते. १ मार्च १९०७ या दिवशीं जळगांवास एक कविसंमेलन भरलें. डॉ. कीर्तिकर हे या संमेलनाचे अध्यक्ष होते. या

प्रसंगी बालकवींचें वय १७ वर्षांचें होतें. त्यांनीं धीटपणें व्यासपीठावर येऊन आपल्या कांहीं कविता म्हणून दाखविल्या. त्या उपस्थित सज्जनांना फारच आवडल्या. तेव्हां बालकवींच्या अलौकिक प्रतिभेचा गौरव म्हणून डॉ. कीर्तिकरांच्या हस्ते त्यांना एक जरीच्या वस्त्राचें पान देण्यांत आलें. या प्रसंगावर माधवानुजांची एक कविता आहे. बालकवींचे मित्र गोविंदाग्रज यांनीं 'नव कवितेच्या जरिपटक्याचा तुलाच अधिकार' असे जे उद्गार पुढें काढले, ते याच प्रसंगास उद्देशून आहेत.

या संमेलनानंतर एक वर्षानेंच म्हणजे १६ फेब्रुवारी १९०८ रोजी बालकवींच्या वडिलांचें देहावसान झालें. या वेळीं देशांत वंगभंगाची चळवळ जोरांत चालू होती. बालकवींचे वडील बंधु चळवळीचे होते. बालकवींनाहि चळवळींत पडावें, असें वाटत होतें. तोंच त्यांच्या आईनें त्यांचें लग्न उरकून टाकलें.

लग्नानंतर बालकवींनीं नाशिक व एरंडोल येथें राहून शिक्षणाचा खटाटोप करून पाहिला. पण त्यांत त्यांना यश आलें नाहीं. शेवटीं ते बडोद्यास कलाभवनांत शिकण्याकरितां गेले. हा काळ १९०९ चा होय. याच सालीं बडोद्यास कर्नल कीर्तिकरांच्या अध्यक्षतेखालीं महाराष्ट्र साहित्य संमेलन भरलें. त्यांत बालकवींची कीर्तिकर, रे. टिळक इत्यादिकांशीं गांठ पडली. दोन वर्षांपूर्वीं जळगांवच्या कविसंमेलनांत याच सज्जनांनीं त्यांचा गौरव केला होता. या भेटींत कीर्तिकरांनीं बालकवींना दहा रुपये शिष्यवृत्ति द्यावी आणि त्यांनीं टिळकांजवळ नगरास राहून पुढील अभ्यास करावा, असें ठरलें. त्याप्रमाणें बालकवि नगरास टिळकांकडे जाऊन राहिले आणि मिशन स्कुलांत पांचव्या वर्गांत अभ्यास करूं लागले. त्यांनीं निदान मॅट्रिक तरी व्हावें, अशी टिळकांची इच्छा होती. परंतु बालकवींना मधून मधून उदासीनतेचे झटके येत. त्यामुळें ते हायस्कूलचा अभ्यासक्रम अखेरपर्यंत पार पाडूं शकले नाहींत.

नगरच्या वास्तव्यांत बालकवींचा अनेक मिशनच्यांशीं संबंध आला. त्यांना शिकविणारे मराठी पंडित म्हणून त्यांना उन्हाळ्यांत महावळेश्वरास जाऊन राहण्याची अनेक वेळां संधि सांपडली. तेथील निसर्गशोभेचें निरीक्षण



टीपा

करण्यांत बालकवींनीं दिवसाचे तासचे तास घाल्यले. अरुण संध्याकाळीं फुलराणी, निझर इत्यादि काव्यविषय त्यांना या प्रवासांतच झाले.

मध्यंतरीं १९११ च्या सुमारास बालकवि पुण्यास 'केसरी' ऑफिसांत राहिले होते. येथें असतांना 'कलापी' या नांवानें 'केसरी'त त्यांनीं काव्य-विषयक कांहीं लेख लिहिले. परंतु पुढें लवकरच ही जागा सोडून ते नगरला पुन्हा परत आले. आतां त्यांना नोकरी करणें भाग होतें. तेव्हां टिळकांच्या शिफारशीनें ते मिशन स्कूलमध्ये संस्कृत व मराठी शिकवूं लागले.

१९१४ च्या जूनमध्ये बालकवि पुन्हां पुण्यास गेले. त्यांचें हें जाणें टिळकांना पसंत नव्हतें. याच प्रसंगावर टिळकांनीं 'पांखरा ! येशिल का परतून ?' ही कविता लिहिली आहे. या वेळीं पुण्यास गोविंदाग्रज होते त्यांची व बालकवींची गट्टी जमली होती. बालकवींची वृत्ति मधून मधून उदास होई. त्यांचा स्वभाव कांहींसा लहरी होता. तेव्हां १९१६ च्या मेमध्ये त्यांनीं एकाएकीं पुणें सोडलें व नेवाळीस ते आपल्या थोरल्या बंधूंकडे राहूं लागले. परंतु तेथें त्यांना बरें वाटलें नाहीं. तेव्हां १९१७ मध्ये ते नगरास पुन्हां परत आले आणि परत मिशन स्कूलांत मास्तर झाले.

१९१८ च्या एप्रिलमध्ये बालकवि जळगांवखुर्दला आपल्या भाचीच्या लग्नास गेले होते. तेथें असतांना त्यांना त्यांचे मित्र सोनाळकर यांची 'जळगांवला ये' अशी तार आली. तेव्हां जळगांवला जाण्यासाठीं ते भादळी स्टेशनपर्यंत आले. तोंच लेव्हल क्रॉसिंगजवळ त्यांचा एक जोडा रुळांत अडकला ते तो सोडवण्याच्या प्रयत्नांत होते, तोंच त्यांच्या अंगा-वहून मालगाडीचें एक एंजिन गेलें आणि त्याखालीं त्यांचा अंत झाला.

बालकवींनीं सर्व प्रकारच्या विषयांवर कविता लिहिलेल्या असल्या, तरी त्यांत सृष्टिसौंदर्यवर्णनपर कविता संख्येनें अधिक आहेत, आणि त्याबद्दलच त्यांचा आधुनिक कवींत लौकिक आहे. बालकवींचा निसर्ग हा वर्डस्वर्थच्या निसर्गप्रमाणेंच चैतन्यमय आहे. वर्डस्वर्थप्रमाणे बालकवींनींही निसर्गावर मानुषी भावनांचा आरोप केला आहे. पण वर्डस्वर्थच्या कवितांत जी अंतर्मुखता आहे, ती बालकवींच्या कवितांत दिसत नाहीं. वर्डस्वर्थ उप-

देशकाचा अथवा नीतिपाठकाचा जसा आव आणतो तसा तो बालकवि आणीत नाहींत, हें सौंदर्याच्या दृष्टीनें युक्तच आहे. परंतु या प्रकारच्या कवितांत जें सखोल चिंतन असावयास हवें, तें बालकवींच्या कवितांत आढळत नाहीं. याला कारण कदाचित् त्यांचें बालवय असावें.

निसर्गाचीं रेखीव आणि यथातथ्य वर्णनें हा बालकवींच्या या प्रकारच्या कवितांचा एक फार मोठा गुण आहे. त्यांच्या शब्दांत निव्वळ जादू किंवा टोणाच नाहीं, तर नाद, रंग, रस, गंध व स्पर्श हे ज्ञानेंद्रियांनीं अनुभविण्याचे सूक्ष्म व तरल गुणहि आहेत. त्यांची या प्रकारची कविता वाचतांना जणू कांहीं आपण धवधव्याचा धवधव असा आवाज ऐकत आहोंत, सायंकालीन मेघांच्या रंगांची चिताड पाहत आहोंत, पावसाळ्यांतील पाण्याचे थेंब वरच्यावर झेलून पीत आहोंत, विशुद्ध कापराचा गंध हुंगीत आहोंत आणि मऊमऊ मखमलीवर लोळत आहोंत, असा भास झाल्याशिवाय राहत नाहीं.

बालकवींची भाषा गीतगोविंदाच्या भाषेप्रमाणेंच सरस व कोमलकान्त पदावलीनें युक्त आहे. तिच्यांत कोठें कठोर वर्ण नाहींत कीं कोठें यतिभंग नाहींत. ती वाचीत असतांना जणू कांहीं आपण शारदीय चंद्रप्रकाशांत एकाद्या शांत सरोवरांत नौकाविहार करीत आहोंत असें वाटतें.

‘बालबोधमेवा’ व ‘आनंद’ या मासिकांसाठीं बालकवींनीं कांहीं शिशुगीतें लिहिलीं होतीं. त्यांत बालांचा स्वभाव उत्तम रीतीनें निदर्शित झाला आहे.

बालकवींची कवित्वशक्ति अलौकिक खरी, पण तिला ठराविक मर्यादा होत्या. ती तारे, फुलें, चंद्र, सूर्य, पर्वत व नद्या यांच्यापलीकडे फारशी गेली नाहीं. हे सारे विषय लिहून होतांच बालकवींचें लेखन मंदावलें. शिवाय उदास वृत्तीमुळें त्यांनीं वरेंच लेखन अपूर्ण स्थितींतच सोडून दिलें. त्यांच्या अखेरअखेरच्या कवितांवर तीव्र निराशेची छाया पडली आहे. तिच्यावरून आयुष्याच्या आरंभीं ‘आनंदी आनंद गडे’ असें म्हणणारा हा कवि अंतीं विषण्ण झाला होता, असें दिसतें.



## बालकवींचें काव्यवाङ्मय

१. बालकवीची समग्र कविता.

### १. फुलराणी :

जाति : पादाकुलक.

आदल्या दिवशीं सायंकाळीं निमीलित असलेली एक कळी दुसऱ्या दिवशीं सूर्याच्या स्पर्शानें उमलते. तिचें जणूं सूर्याशीं लग्न लागतें, अशी कल्पना करून हें काव्य लिहिलें आहे. फुलराणी म्हणजे एक कळी. हा शब्द खास कवीचा आहे.

पृ० ९४ ओ० ३ अव्याज—निष्कपट, सरळ.

... ४ प्रणयचंचला भूलीला—प्रेमभावनेनें मनांत चल-बिचल झाली म्हणजे तरुण-तरुणी परस्पराना संकेत करीत भिवया उडवतात.

... ५ आई म्हणजे लता.

दुसऱ्या कडव्यांत सध्यावाताला विनोदी म्हटलें आहे. कारण तो फुलराणीची व इतरांची इतकी थट्टा करावयाचा कीं, तीं हसतां हसतां अगदीं गडबडा लोळू लागतः

पृ० ९४ ओ० १० संध्येतून—संधिकाळांत अर्धा उजेड, अर्धा अंधार असतो तेव्हां जणूं कांहीं ती खिडकीची फट आहे व सूर्य तीतून डोकावत आहे अशी कल्पना.

... ११ रविकर—कर शब्दावर श्लेष. कर म्हणजे किरण किंवा हात. कारण फुलराणीचें सूर्य पाणिग्रहण करणार होता.

... १३ आंदोळीं संध्येच्या—संध्याकाळीं उजेड मिणमिण करीत लोपतो आणि रात्र हळूहळू पसरते, तेंच रात्रीचें संध्येच्या झोपाळ्यावर बसून झुलणें होय.

रजनी काळी असते. आणि काळ्या स्त्रिया जादूटोणा करतात, असा एक समज असतो तो येथें योजला आहे.

- पृ० ९४ ओ० १८ लागेना डोळ्यांशीं डोळा-उमलणाच्या कळीच्या पाकळ्या विलग होत असतात, तेंच डोळ्याला डोळा न लागणें.
- ... ९५ ... १९ दिवट्या-म्हणजे येथें काजवे.
- ... ... २५ कुणी कुणाला आकाशांत-निरनिराळें तारे एक-मेकांना.
- ... ... २८ तों-उजाडण्यापूर्वी थोडा वेळ अगोदर.
- ... ... २९ व्योमींच्या प्रेमदेवता-तारका. झाडावर नवीन अनेक कळ्या उमलल्या त्याच जणूं वाऱ्याच्या पायऱ्यां-वरून खालीं उतरल्या.
- ... ... ३० त्या वदल्या...राणी-कारण फुलराणी उमलणारी कळी होती.
- ... ... ३१ स्वभूमीचा...वात-पहाटवारा वरपासून खाल-पावेतो वाहतो, तो स्वर्ग व भूमि यांचें मीलन घडवतो.
- पृ० ९५ ओ० ३४ सूर्य आपल्याला वरणार, याबद्दल कळीला आतां शका राहिली नाही.
- ... ... ३८ मोतीं-दंव.
- ... ... दिव्य वन्हाडी-लक्षाकरितां येणारी अरुण, पूर्व दिशा, रंगीत मेघ इत्यादि तेजस्वी पाहुणे मंडळी.
- ... ९६ ... ४३ मंगलपाठ-मंगलाष्टकें.
- ... ... ४८ भेटे...फुलराणीला-सूर्याचा कर कळीला लाग-तांच ती फुलली.
- ... ... ५१ उच्छ्वासांहीं-झुळुकींनीं किंवा वाफांनीं.
- ... ... ५३ कवि व स्फूर्ति हें जोडपें.

## २. श्रावणमास :

जाति : फटका.

श्रावणांतील पावसाचें चित्रमय वर्णन.

पृ० ९६ ओ० २ शिरवे-पावसाची सर.

... ९६ ... १६ भामारोष-श्रीकृष्णानें पारिजातक रुक्मिणीच्या अंगणांत लावला म्हणून सत्यभामा त्याच्यावर रुसली होती.

. ९७ १७ पुरोपकंठी-शहराजवळ राहणाऱ्या.

## ३. तारकांचें गाणें :

जाति : बालानंद.

चपखल रीतीनें बसविलेले नादानुकारी आणि अर्थानुरोधी शब्द व स्त्रीस्वभावसुलभ संवाद यांमुळे या गाताची मधुरता वृद्धिंगत झाली आहे. गाताची चाल भावानुगामी आहे. त्यांतील कल्पना अभिनव व हृदयंगम आहेत. विशेषतः पांचव्या कडव्यांतील कल्पना हृद्य व आस्वाद्य आहे. शेवटच्या कडव्यांतील शेवटच्या तीन ओळींत कवीनें आपल्या ज्योतिर्ज्ञानाचा उपयोग काव्याचें सौंदर्य खुलविण्याकडे करून घेतला आहे.

## ४. पारवा :

जाति : दिंडी.

वयाच्या अवघ्या २८ व्या वर्षी आयुष्याच्या अखेरीअखेरीं बालकवींच्या मनाची स्थिति निराशामय झाली होती. एकांतांत अकारण कुढत बसावें, ही संवय त्यांना जडली होती. तिचें प्रतिबिंब या कवितेंत पडलें आहे. एकलकोंड्या व शांतवृत्तीच्या पारव्याला उपलक्ष करून बालकवींनीं आपलें हृदय या कवितेंत उघडें केलें आहे. ही कविता अपूर्ण आहे.

पृ० ९९ ओ० १९ जगांतील दुःखें पाहून भगवान् गौतम बुद्धांना ज्या-प्रमाणें करुणा आली व त्यांची समाधि लागली त्याप्रमाणें.

## ५. मेघांचा कापूस :

जाति : चंद्रकांत.

बालकवींच्या अखेरच्या उदासीन मनःस्थितीत ही कविता अपूर्ण राहिली आहे. तिच्या शेवटच्या तीन ओळींवरून ती एखाद्या खंडकाव्याच्या सुरुवातीचा भाग असावी असे वाटते. निरनिराळ्या रंगांचीं रूपे शब्दांत साकार करण्याचें सामर्थ्य बालकवींच्या ठिकाणीं किती मोठ्या प्रमाणांत होतें, हें या कवितेंतील आरंभींच्या ओळींवरून सिद्ध होईल.

## ६. औदुंबर :

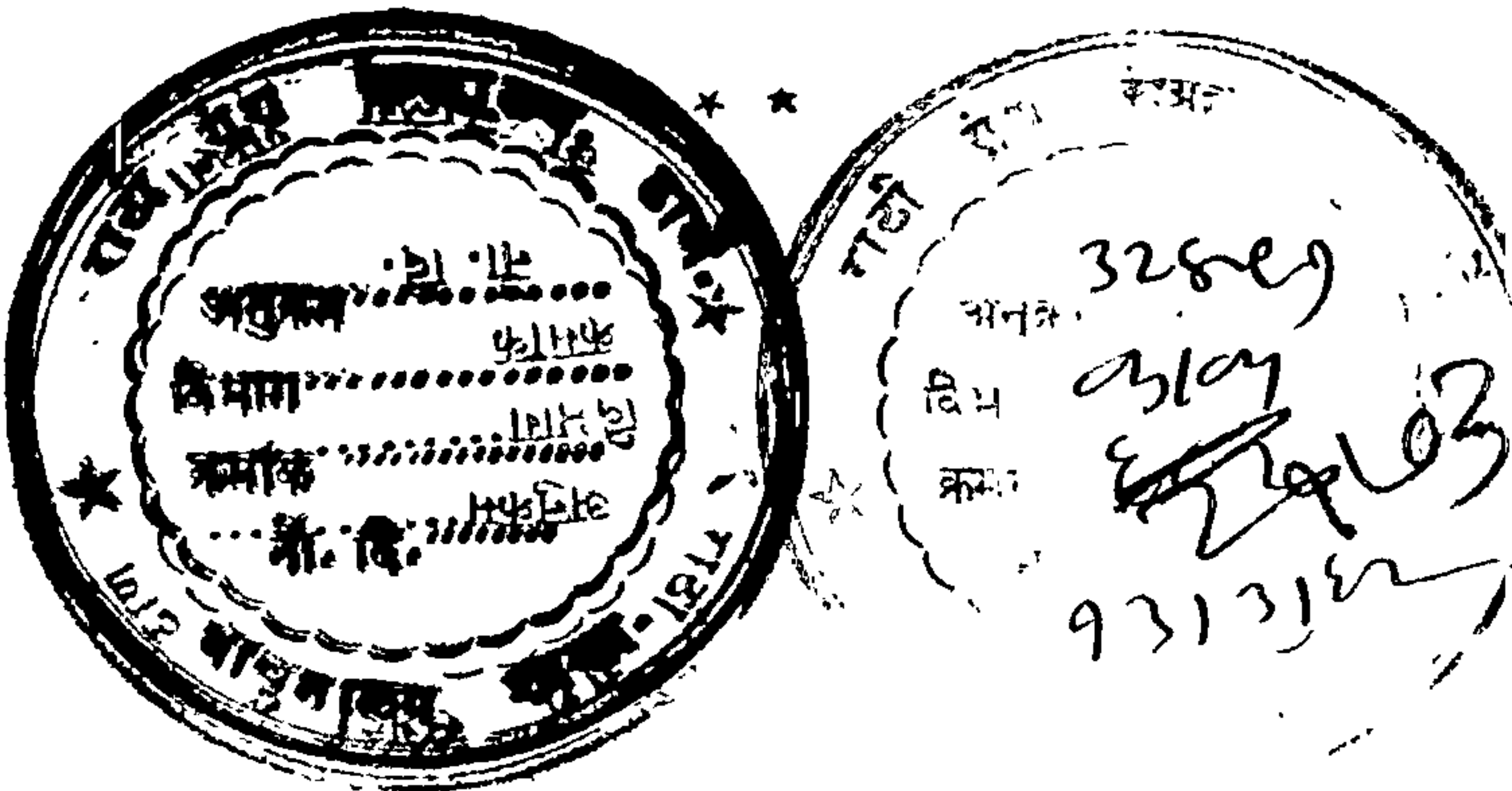
जाति : भूपाली.

अचूक शब्दांच्या आलेख्ययंत्रानें हें औदुंबराचें हुबेहूब छायाचित्र घेतलें आहे. या कवितेंतील शब्द वाचतांना स्मृतीच्या पडद्यावर खरोखरच औदुंबराचें चित्र उमटते.

## ७. उदासीनता :

जाति : पादाकुलक.

बालकवींच्या नेहमींच्या मनःस्थितीचें हें शब्दचित्र आहे. बालकवींवर लिहिलेल्या मृत्युलेखांत टिळक म्हणतात : “ त्यांना आंग्ल कवि William Cowper याच्याप्रमाणें क्षुद्र कारणानें किंवा कधीं कधीं निष्कारणाहि जीवाला कंटाळण्याइतकें विमनस्क होऊन बसण्याचा विकार होता. ”





**REFBK-0019901**